

DAMAGE BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180699

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83/SG14 Accession No. G.H 226

Author सिंह, राधिकारमण प्रसाद

Title नारी क्या - एक पहेली ? 1950

This book should be returned on or before the date
last marked below.

अपनी ओर से—

वह जो किसी ने कहा है न कि बीते हुए कल को न देखकर आनेवाले कल को देखो, नहीं तो आज की विकलता तुम्हें कल न आने देगी। यह सौ बात की एक बात जवानी के उठान के लिए समीचीन चाहे जो हो, उतार के लिए नहीं। पचास के उस पार जाकर आनेवाले कल को देखना तो आनेवाले काल को देखना है जैसे।

अब वह सामने क्या देखे, क्यों देखे, किधर देखे। है भी कुछ वैसा कि कोई जी-भर देखे।

वैसे तो साँस रहते कोई जिधर चाहे उधर देखे—अपने स्वप्न-सौध की पौर पर आँखें बिछाये किसी अनायास की राह ढूँढ़ा करे; मगर जब उम्र ढलती है और इन्द्रियाँ लगती हैं लरजने तब सामने की निगाहें भी जाने अनजाने लगती हैं जवाब देने।

अक्सर यौवन का अवसान तो वह सुनसान है कि बैठे-बिठाये दिल बुझ जाता है। ऊषा की लाली तो अपने दामन में उजेला लिये आती है, मगर गोधूली की लाली छोड़ जाती है सर पर घुप्प अँधेरा।

कहाँ साँझ का तारा, कहाँ भोर का तारा। कहाँ उम्मीदों और उमंगों के अंजुमन में भूमती हुई बीसी और

तीसी की मस्ती, और कहाँ अपनी उजड़ी हुई महफिल की रौनक की यादगार—परवानों—की खाक छानती हुई पचास की ढलान की पस्ती।

बस वह चाहता है लौट जाना अपनी उसी रसमस्ती की पौर पर, मगर घड़ी की सुई पीछे लौट पाये तब न। काल की गर्दन मरोड़ गये दिन तो कोई छीन लाने से रहा। वह लाख सिर धुना करे कि—

“बता दो ज़रा रासना मयकदे का।

मैं गुज़री हुई ज़िन्दगी ढूँढ़ता हूँ ॥”

मगर यह महफिल की रंगीनी न रही तो फिर क्या ज़िन्दगी ही सूनी हो गई किसी की। शरीर बुझे तो बुझे, दिल क्यों बुझेगा। निखार और उभार न सही, फलने और पकने का मौसम तो यही ठहरा। लेने के, सँजोने के दिन गये, देने के नहीं। और, देने में जो मौज है वैसी लेने में क्या होगी ?

हाँ, जब और कुछ नहीं बन पाता है, तो बीते दिनों की याद तो बन आती है बराबर। अतीत की चिता-भस्म को कुरेद-कुरेद कर हम लगते हैं वैसे दिनों को चुनने जो एक दिन सुखमय स्वप्नों से पलकें आँजते यौवन की पौर पर आए और आज भी चेतना के ताने-बाने में ज्यों-के-त्यों बने हैं। यों घंटों डूबे रहते हैं हम और अतीत की जाने कितनी तसवीरें सिनेमा की रील की तरह फिरती

रहती हैं पुतलियों के अन्दर । न सही वे आँखों के सामने,
आँखों के अन्दर तो बस रही हैं निरन्तर ।

हाँ, जो अपनी खोई हुई संभावनाओं को लेकर आठों
पहर सिर चीरता है, वह सिरफिरा तो बस सिर धुनता
रह गया ।

कितने तो उन बीते दिनों की याद को अपनी ही खुशी
तक नहीं रख पाते । उस पर नमक-मिर्च लगा कर दस
दोस्तों को चखाते भी हैं । और कहने का ढंग रहा, तो
जमाना उसे कान देकर सुने भी । वह आँखों देखी हो या
जानो-सुनी; मगर हो किसी अनूठी घड़ी की बानगी और
जबान की ऐसी चाशनी में पगी कि उसकी ताजगी पर
कोई आँच न आए । रङ्गी कला की विभूति, तो वह हमको
हमसे अलग न कर सकी, तो फिर किसी की लेखनी की
क्या चली या किसी की कूँची भी क्या रंग लायी ।

यह तो तय है कि हमारी भावनाएँ अंधाधुन्ध जब
वाणी पर टूट कर आती हैं तब उनके पर कतर जाते हैं
जैसे । मगर रात की निस्तब्धता में जब वे हौले-हौले
हमारी लेखनी पर उतरती हैं तब उनकी सज-धज के
क्या कहने !

वैसे कहने को तो कल्पना की क्यारी में जैसे गुलबूटे
उग पाते हैं वैसे वास्तव की ठोस ज़मीन पर संभव नहीं ।
मगर यह तो अपनी-अपनी नज़र है, अपना-अपना
अन्दाज़ । हम तो कहेंगे कि बीती बात के आगे गढ़ी बात

की क्या वक्रत ? कहाँ जीवन की ज्वलन्त भाँकियाँ, कहाँ मनगढ़न्त लन्तरानियाँ ! न सही वह वैसी लहालोट—वैसी रहस्यमयी, पर वास्तव की भित्ति पर भी कला की गुलकारी अपनी एक निराली अपील रखती है बराबर ।

माना कि सत्य को सुन्दर, रुचिकर करने के लिए थोड़ा-सा स्वप्न या रहस्य का दामन जरूरी है—शायद कथानक के क्षेत्र में सत्य एकछत्र हो कर नहीं जँचता । जो हो, मगर मैं पूछता हूँ, कौन ऐसा जीवन है जिसके अन्दर वैचित्र्य नहीं, रस का उपादान नहीं । मानव का मन तो इतना गहन है कि हम उसकी सतह पर ही रह जाते हैं तैर कर—तह की अनुभूतियों तक वैसा गुजर नहीं । अब किसी कुशल लेखनी के खुल खेलने के लिए हरी-भरी पटभूमि और क्या होगी ? आखिर आनन्द का परिवेशन तो सत्य पर है, न स्वप्न पर । वह तो कलाकार की कलम का करश्मा है कि वह जिधर ढल गया, मूरत बोल गई ।

हम भी जब सामने से आँखें फेर अतीत के सँजोये दिनों पर लाते हैं तो बग़ैर दस को साथ लिये जी नहीं भरता । एक दिन तो वह आलम था कि क्या कहें, कैसे कहें—कोई सुनेगा भी हमारी ? पर जैसे-तैसे 'टूटा तारा' और 'सूरदास' की यादगार को अपनी लेखनी के मत्थे ठोक हम उस मिमक से जैसे छुट्टी पा गये । अब तो बे-पर की उड़ाने की न वैसी रुचि होती है, न स्फूर्ति । वह

जीवन की डोर ही कट गई जैसे । आज तो न तबीयत का वह तक्राजा है और न हवाई तिलस्मों का उड़न-खटोला ।

आप तो कहेंगे कि बैठे-बिठाए जाने कब के बीते दिनों को उटकेरना तो गड़े मुर्दों को उखाड़ना है सरासर । किसी को कहाँ की ऐसी पड़ी है कि उस बुझी हुई लौ से खेले । अब न रही वह पुरानी दुनिया, वह चिकनी-चुपड़ी धारणा, वह सधी-बँधी विचारधारा । आज तो जिधर देखो उधर एक नई खींचतान है, एक नवीन मूल्यांकन—क्या सामाजिक, क्या आर्थिक और क्या राज-नैतिक—हर क्षेत्र में क्या-से-क्या हो गया और जाने अभी क्या-क्या होगा ।

आज कला की क्यारी में भी वह गुल है न वह बुलबुल । इस युग की हवा का रुख देखकर कलाकार भी लगा है अपनी नाव पर पाल बदलने ।

मगर भाई मेरे, युग और समाज का रुख जो बदले, आदमी के मिजाज का रुख तो बदलता नहीं ।

जीवन का वातावरण बदला है, मन का वातावरण नहीं बदलता । आज भी ईश्वर का स्वरूप वही है—किसी के लिए रस-सिंचन, किसी के लिए तत्त्व-चिन्तन । आज भी नारी की प्रतिमा वही है—किसी की मदिरा, किसी की प्रेरणा । और, जीवन-दर्शन की जटिलता चाहे जो बढ़ी हो, उसकी दिशा और परम्परा तो बदली नहीं ।

वह देशगत और कालगत सीमा से घिरी नहीं है। वही आँसू और हास है, वही राग-विराग और वही आस-प्यास। और किसी अतीत के आह्वान के बीच इस चिरन्तन के ताने-बाने पर व्यंजना की बारीकी गुल कतर गई। तो फिर जबतक आदमी के अन्दर बेलबूटे की पहचान है, तबतक वह लावण्य की योजना हमारे आनन्द की आरती बनी रहेगी।

तो लीजिए, यह निरी कहानियाँ ही नहीं। जीवन की माँकियाँ भी हैं। न सही वैसी कल्पना की नक्काशी, न सही रसरंग की पञ्चीकारी, वास्तव की जीती-जागती बानगी तो है। सौ सुनार की, न एक लुहार की।

और, आज की प्रगति का ताक्काजा भी इस अतीत के स्वागत से मुँह मोड़ नहीं पाता।

बस, अब तो स्मृति का मंथन ही एक अपना मनोरंजन है आज। इस मंथन से गरल निकले, या रस-कलश—जाने मेरी लेखनी।

दिल के बहलाने की सूरत जब नज़र आती नहीं,
भूलने वाले को अपने याद कर लेता हूँ मैं।
मैं तसव्वर में बसा लेता हूँ एक दुनिया नई,
दिल के वीराने को यों आबाद कर लेता हूँ मैं।

समर्पण

भाई,

याद नहीं जाने कब से सुनते आये हैं कि नारी की बातें नारी ही जानें। उसकी प्रकृति के रेशे-रेशे में ही वह कब-क्या की फितरत है कि उसका पता कोई क्या ढूँढ़े, कहाँ ढूँढ़े। तो बस समझ लीजिए कि नारी वो एक पहेली है—पहेली।

वह जिस हद तक हमारे सामने खुलती है उससे कहीं अधिक अपने पर पर्दा रखती है निरन्तर। जो कुछ हम देख पाते हैं वह उसका तमाम जलवा नहीं; जो कुछ हम ढूँढ़ पाते हैं वह उसका तमाम परिचय नहीं; जो कुछ हम सूँघ पाते हैं वह उसका तमाम सौरभ नहीं; और जो कुछ हम सुन पाते हैं वह कुछ उसके दिल की सदा नहीं, उसकी वाणी की ही व्यंजना है अधिकतर। ऐसी है नारी-प्रकृति की निराली अज्ञेयता—बस नेति-नेति की पुकार हिलोरें लेती रहती हैं हमारे अन्दर। वह न अपनी मुस्कान में आती है न अपनी निगाह में और न अपने आँसुओं के प्रवाह में बहकर किसी किनारे लग पाती है कि कोई उसे उलट-पुलट कर ढूँढ़ ले; और बातों में तो उसे कोई पा ही नहीं सकता—बस यह आई और वह गई, और रह गये हम हाथ मलकर।

वह कब किधर मुड़ जायगी और क्या से क्या कर

दिखायेगी, यह रहस्य ही तो अनूठा अन्दाज है उसका, जिसकी पौर तक हमारी बुद्धि की पहुँच नहीं। मैं पूछता हूँ, कब किस मर्द ने उस पहेली का रुख देखा—उस पहेली का हल पाया।

—और पाये भी कैसे कोई। हमारी आँखें तो सतह पर ही तैरती रह जाती हैं, वह तक तो उतर नहीं पातीं।

हाँ, इस नियम का व्यक्तिक्रम मैंने एक आपको पाया। भगवान ने आपको आँख ही नहीं दी, नज़र भी दी है लासानी, और दिल भी दिया है दर्द का आशना। जभी तो अपने माशूक के जिस जलवे को देखा वह हमारी नज़र को कभी मयस्सर नहीं।

याद आ रहा है मुझे आज वह दिन जब मैंने बाज़ार की गली की उस नवेली को पेशवाज में लैस अपने एक सम्बन्धी के विवाह की महफ़िल में ठुमुकते देखा, और उसे क्या देखा, रसरंग का एक फव्वारा, उठती जवानी का एक करश्मा देखा बस। उस पल किसी को क्या पता था कि दिलचलों की महफ़िल की यह लाड़ली ऐसा काया पलट पायेगी कि अपने शहर की पहली मैट्रिक ही नहीं—पहली एम० ए० भी होगी अपने रंग की अनूठी।

और कोई पता पाता भी कैसे? हमने तो उस रूप का निखार देखा बस, आपने देखा उसका स्वरूप। हमने पाया था उसकी आँख में जादू, आपने पाया उसमें आँसू भी बराबर। रह गये हम उसके लीलायित अंगों की लहरियों पर

उसकी मुस्कान की शोखियों पर तैरते, आप उतर गये—
उसके हृदय की गहराइयों—उसके दर्द की बेताबियों तक ।
और, उसके दिल की फड़कती रग ही ढूँढ़कर नहीं रहे—
उसकी दुखती रग पर अपनी उँगली भी रख दी ।

और बस छू गई वह बिजली—उमड़ आई शक्ति की
वह सोती कि पलट गई उसकी काया—बदल गई उसके
जीवन की दिशा; क्या से क्या हो गई वह आखिर, कहाँ
से कहाँ उठकर आ गई वह आज । और उस 'तब' की
अंधियारी ने 'अब' के इस उजाले में चार चाँद लगा
दिया है जैसे । दिखाये तो कोई धरती का चप्पा-चप्पा
ढूँढ़कर इस जोड़ की दूसरी तसवीर ।

जो उठी थी सारंगी और तबले की ता-धिन पर—
नाक में नथ और पैर में घुँघरू बाँध यारों की मौज पर
ठुमुक-ठुमुक नाचने, वह दो दिन बाद अपने अन्दर से वह
सत्ता ढूँढ़ पायेगी कि अपने इल्म और अमल के बल पर
आज की उँगली उठाने वाली इस दुनिया को भी अपनी
उँगलियों पर नचाकर ही तो छोड़ेगी—यह किस फरिश्ते
को खबर थी, कहिये ?

हाँ, लाख में एक, जिसने यह खबर पाई, वह दिल
सिकोड़ रह न सका ।

जहाँ मैं छिपाये रहा दर्द अपना
मगर उनके दिल को खबर हो गई

आज इस जौहर के निखार को दुनिया जान पाती तो इतिहास के दाँतो-तले भी उँगली होती—जैसी जीवट की अनूठी कहानी है वह। मगर आप तो दाहने हाथ की करतूत को बायें हाथ तक भी पहुँचने नहीं देते, दुनिया को कब जना पायेंगे आप।

यही कमाल तो आपका वह जमाल है जिसे वही जानता है जो वह जानता है। वैसे जानने को तो कौन नहीं जानता आपको, पर वह जानना क्या जब पहचाना नहीं और दिल उँडेल माना नहीं।

तो बस लीजिए, यह एक-आध नई पहेली भी आप ही को नज़र रही। मैं तो इनका छोर तक वैसा नहीं ढूँढ़ पाता हूँ, बस—

‘सामने मेहमाँ के जो कुछ था मयस्सर रख दिया’

सूर्यपुरा, १६५०]

—राधिकारमणप्रसाद सिंह

नारी क्या—एक पहेली ?

अपनी और पराई

एक वह दिन था कि बेर डूबी और दिन-भर की तमाम उलझनें ताक़ पर रख—बैठ गये हम कोई दिल-बहलाव लेकर। बिछ गई शतरंज या छिड़ गई कोई चुहल। बे-बात की बात नहीं—पते की बात, काट-छाँट की बात।

और एक आज है कि उधर बेर डूबी, इधर दिल डूबा। कोई रहा भी अपना वैसा जिसके साथ मान का नक्काब उतार धड़ल्ले से हँसें या रोयें ? कहाँ हैं वे अपने हेली-मेली, जो हमारे आँसू में अपने आँसू मिला गये—हमारी हँसी-खुशी में अपनी स्फूर्ति ? आज तो कोई कहीं है, कोई नहीं है। एक हम हैं जरूर ; फिर भी क्या वही हम हैं आज ? है वह ओज—वह मौज ? ऐसे रहे न रहे। ऐसे जीने में जो ज़रा भी जी हो ! मगर चारा ? जिये जाना है जैसे-तैसे।

“नैया जो रहिते तो सब कोइ खेवते।

उमरिया कोई ना खेवे हमारी ॥”

जानी-मुनी-देखो

आज न वह दिल है न वह दुनिया । ज़माना भी क्या-से-क्या आ गया ! आज हर-किसी के साथ आठों पहर अपनी-अपनी दे-ले की लगी-लिपटी है । आई तो रोज़ी, नहीं तो रोज़ा । है भी किसी को दो घड़ी की तफ़रीह की गुञ्जाइश आज ?

ऐसे दिन आ गये कि न होठों पर हँसी है न आँखों में शायद आँसू । जो पहले बात-बात पर उबल आते रहे, वे अब किसी संघात पर भी म्हाँकने नहीं आते । कहाँ हम हँसते भी तो खुलकर, रोते भी तो उमड़ कर ; कहाँ ऐसी टेढ़ी घड़ी आ गई कि हँसी की हिलोरें तो दूर, आँसू का उभार भी ईद का चाँद हो गया जैसे । वह दिल ही नहीं रहा क्या, कि जिसकी एक ओर आह भरी रहती तो दूसरी ओर बाह ? बहार तो आने से रही ! इस ऊमस में न काल वैशाखी है, न सावन की झड़ी ।

हमारे होठों से हँसी छिन जाय तो छिन जाय, मगर इन आँखों से आँसू का लुट जाना तो दिल का ही बुझना है सरासर । जब अन्दर की आशा का दीपक ही बुझ गया, तो फिर कोई क्या हँसे और क्या रोये !

हम जानते हैं कि 'नैराश्यं परमं सुखम्'—

“दिख को क्या-क्या सकून होता है,

जब कोई आसरा नहीं होता ॥”

मगर मरकर भी जो नहीं मरती वह है यह माया-विनी आशा । इसी आशा के सूत में तो आँसू और

नारी क्या—एक पहेली ?

मुसकान के दाने पिरोये हैं । हमारे साथ तो वह सूत ही टूट गया क्या ?

हाँ, जब-तब उस अतीत की ठंडी राख कुरेदने में एक ठंडक है दिल को । जब शाम होती है और सारे दिन की खटन से चकनाचूर बैठ जाता हूँ अपने दिल के अन्दर सिमट कर, तो जाने कितनी तसवीरें—धुँ धली ही ही सही—लगती हैं आँखों में फिरने ।

“एई बातासे फूलेर बासे

मुख-बानि तार पड़े मने ।”

कितने हँसमुख चेहरे, कितनी निखरी निगाहें, कितने चुहचुहाते चोंचले, कितनी बातों के नगीने, किसी की मर्मस्पर्शी वाणी, किसी की इठलाती ज़िन्दादिली रह-रह कर झाँक जाती है उस चिन्तन के चिलमन से ! जी तो चाहता है कि उन तमाम तिलमिलाती तसवीरों को अपनी लेखनी की नोक पर पिरो-पिरोकर वह माला तैयार करूँ जिसे साहित्य की दुनिया अपने गले का हार बनाने में कोई हिचक न माने ।

मगर—

“भरे हैं दिल में सब अरमाँ, न ले जा उनको महफ़िल में ।

खुदा जाने, मैं क्या कहने को चाहूँ, मुँह से क्या निकले ।”

हाँ, किसी दिन कोई पुस्तक साथ दे गई, तो फिर जी बहलते देर न हुई । आज तो वही एक ऐसी हँसती-बोलती संगिनी बच रही है कि कभी वह न रही, तो हम

अपने ही में न रह पाते गोया । कहीं किसी उलझन में पड़ उसका साथ छूट जाता है, तो लगता है जैसे—‘कोई गुनाह किये जा रहा हूँ मैं !’

साहित्य का अनुशीलन किसी को धन चाहे न दे, मान तो अवश्य देता है । मगर वह हमें आँख और दिल न दे सका ; तो फिर दिया क्या ? और दिलबहलाव तो वह ऐसा है कि दिल ही जानता है उस रस के आशना का ।

परसों एक विलायती पत्रिका हाथ आ गई । वह क्या हाथ आई, हमों उसके हाथ आ गये ! ऐसा डूबे कि घंटों उसमें गोते लगाते रह गये । यह सामने की दुनिया उड़ गई जैसे । एक बड़ा ही सनसनीदार दिलचस्प व्यंग्य-चित्र निकला—आज की नई रोशनी की नारी पर एक चुभता हुआ कटाक्ष ! इस युग की नारी तो अन्दर से सँवरती नहीं, बस बाहर से सजी-धजी रहती है सरासर ।

“Vanity—thy name is woman.” (‘माया’ !—तेरा नाम है नारी)

तभी जाने कैसे किताब हाथ से छूट गई और हमारी स्मृति के पट पर खिंच आई अतीत की एक सनसनीदार घटना, जिसे मास्टर साहब ने—“Frailty, thy name is woman”—पुकार कर हमारी आँखों में जँगलियाँ डाल दिखा दिया ।

यह कोई बीस साल पहले की बात है । हमारे यहाँ

नारी क्या—एक पहेली ?

एक अजब उलझन-सी खड़ी हो गई थी किसी एक कलाल की बहू को लेकर । उसका पति, अरसा हुआ, जाने कहाँ गुम हो गया । घर में जाने क्या ऐसी बात हो गई कि वह एकबारगी यों उखड़ पड़ा । यह भी खबर उड़ चुकी थी कि साधु होकर उसने किसी मठ को थाम लिया है । उसकी बहू पिसौनी-कुटौनी कर अपना चोला पालती चली गई दो-चार साल तक । क्या करे बेचारी, सोने की एक सींक भी तो न थी कि वह अपनी नाक ऊँची रखे । आखिर जब कोई रास्ता न निकला तो एक दूर के देवर के घर बैठ गई । माथे पर फिर सिन्दूर खिल उठा ।

मगर अजब शुदनी, वह गड़ा मुर्दा जाने कैसे कफन फाड़ निकल पड़ा—उसका पति आ टपका । साथ लाया ज्वर और जेवर । उसने आते ही अपनी पत्नी तलब की । उसके न रहने पर वह कहीं भी रही हो, उसे परवा नहीं; मगर उसकी आँखों के सामने वह उसकी होकर भी किसी और की होकर रहे, यह कैसे वह देख सकेगा । पहले तो पेट की जलन का हीला भी था; मगर अब ?

वह पड़ी मुश्किल में । क्या करे ? यह भी अपना, वह भी अपना । कानून का रुख कुछ भी हो, यहाँ प्रश्न था उसके हृदय के रुख का । सोने के जेवर जोरदार निकले । कहाँ नाक को एक लौंग भी नसीब न थी, कहाँ मोती-

जानी-मुनी-देखी

पिरोई भुलनी आ मिली । वह लौट गई पहले ब्याहे के घर ।

लौट तो गई; मगर दस दिन भी ठहर न सकी । जाने कैसे क्या हुआ कि सोना उतर गया उसकी आँखों से । वह पलट आई फिर गरीब के घर !

बस, एक भयंकर विवाद खड़ा हो गया । जब ले-दे से बढ़कर हाथा-पाई की नौबत आई, तो मामला आया एक पंच के सर । उसने फैसला क्या दिया, ऋगड़े की बुनियाद को ही खा गया—रख लिया उसे अपने घर । बिल्लियाँ लड़ीं, बन्दर के भाग जागे ! जाने क्या देख वह एक सौत के घर बैठ गई, पता नहीं ।

बस, इसी घटना को लेकर बाल की खाल खाँची जाने लगी । चेतना और अवचेतना की छान-बीन चली, और मास्टर माहब बड़े तपाक से इस निचोड़ पर आये कि 'Frailty, thy name is woman', ! (चपलता—अस्थिरता—नारी का ही पर्याय है)

उपाध्यायजी बोले—“मगर साहब, यह चपलता तो विलायती वायुमंडल की उपज है । एकाध ऐसी चुलबुल चाहे जो हो, हमारे यहाँ तो सैकड़ें नब्बे क्या—निन्यानबे के लिए यही लागू है कि ‘एकै धर्म एक व्रत नेमा, काय-बचन-मन-पति-पद प्रेमा !’ बस, “Fidelity, thy name is woman.” (नारी का ही दूसरा नाम सतीत्व है)

“अपने मुँह मियाँ मिट्टू ? भूल गये—आपके इसी

नारी क्या—एक पहेली ?

तुलसीदास ने क्या कहा है ?—‘साहस अनृत चपलता माया, भय अबिवेक असौच अदाया ।’ अजी, यह क्या किसी देश या जाति पर है ? यही चिरन्तन नारी है—चपला-सी चपल ! समझे ? उसकी लट दबी रही तो आप चाहे जैसे रख लें, उसके त्याग और सेवा की डौंड़ी पीटें; मगर कहीं वह आजाद रही तो भर चुके आप बिजली को अपने अंकों में—वह चौकड़ी भरेगी कि बस !”

मास्टर साहब और उपाध्यायजी की काट-छाँट चचा साहब चुप सुन रहे थे । जाने कैसे ‘करेण्ट’ छू गया—एकबारगी तड़प उठे—“नारी तो एक पहेली है, पहेली—Mystery, thy name is woman !”—आप क्या समझते हैं कि आज पर्दा तोड़ आँखों के सामने है तो एक खुला चिट्ठा है वह ? एक निगाह डाली और पढ़ लिया ? सच मानिये, हमने अपनी आँखों देखा है कि कहीं वह प्यार पाकर एकबारगी उखड़ गई और कहीं मार खाकर मोम-सी सुबुक हो गई ।”—“स्त्रीचरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः ।”

“आखिर बात क्या है, कुछ कहिये भी तो ?”

“क्या कहें, बड़ा दर्दनाक क्रिस्सा है वह !.. वह ‘बिदेसी’ तो आपको भूला न होगा ?”

“कौन बिदेसी ?.. अच्छा ! वह, जो कुछ दिनों तक

जानो-सुनी-देखो

तुम्हारे साथ था—दुबला-पतला, औरत की-सी शक्त !
कमाल का गला पाया था उसने ।”

“हाँ, उसीकी चर्चा है, सुनिये ।” अच्छा, वह ‘मिसरी’
भी याद होगी ?”

“मिसरी कौन ?”—मास्टर साहब लगे आँखें फाड़
देखने कि उपाध्यायजी बरस पड़े—“अरे भाई, कहोगे
भी कि यों ही ओटे जाओगे ।”

“अच्छा, तो सुनिये । हम ज़रा उलट-पुलटकर कहेंगे
अपने तरीके पर; आप समझ लेंगे ।”



वह उस कोमल ध्वनि के प्रत्येक आरोह-अवरोह के बिखरे कणों को समेटने लगा। मेले के हुल्लड़ में आवाज कान की राह आने न पाती—कट-छँट जाती, बिखर जाती, उड़ जाती। पर, वह कान खड़े कर उसे पीता और पी-पीकर होंठ चाटता, फिर सोचता—यह गला है या जादू, ध्वनि है या मोहिनी !

ताज्जी जलेबियाँ, गुलाबी रेवड़ियाँ—रस में डूबी, मद में भरी !

वह झुल्लाकर अलग हट गया। मेले का शोर-गुल दून पर था।

“क्यों यार, यहाँ क्या ठमके खड़े हो ?”—वह मुँह फेर बाईं ओर टल गया।

आवाज हवा पर थिरक रही है—“सोने के छतरा चढ़ाहों भवानी, मैं रउरे मँदिरवा।”

हवा का एक झोंका आया—मन्दिर की दीवार पर पसरी

जानी-सुनी-देखी

हुई मालती के एक झोंप से खुशबू की एक लहर छूट पड़ी। इधर यह गंध, उधर वह गान। एक भीन गया, एक बस गया—और दोनों अदृश्य ! भगवान जानें, इन सुकुमार पतले-दुबले फूलों के पहलू में कहाँ दिल है—कहाँ है उस सुवास के उत्स का केन्द्र—कहाँ से रस फूट-फूटकर उमड़ रहा है ? और यह गान ! जाने कहाँ से उपट रहा है—आकाश से, सितारों के प्रकाश से, मन्दिर की दीवार से या उन फूलों के पराग के संचार से ।

वह बुत बन गया। मन्दिर के दरवाजे पर ठिठका खड़ा रहा। इधर यह गन्ध, उधर वह गान—एक भीन गया, एक बस गया—और दोनों अदृश्य !

आज वह कैसी सनक उस पर सवार थी। आखिर बात क्या है ? इस गले में न कोई करश्मा है, न इन फूलों की लपट में कोई तिलस्म ! भीड़ का भबभड़, मेले का हुल्लाड़ ! फिर भी उसकी चेतना, जीवन की तमाम उलझन को अलग रखकर, दो फूली-फली पँखड़ियों की सुरभि पर तैरती हुई, एक सुकोमल गले की गोद में पैठ गई थी ! यह रहस्य तो जीवन का चिरन्तन रहस्य है जैसे। यह कोई ऐसी घड़ी है, जब साधारण भी जाने किस तिलस्म के तेवर पर असाधारण बनकर हमारी अनुभूतियों पर छा जाता है ।

जिस सूरत को हम प्रति दिन देखते हैं—और देखकर भी कभी कुछ देख नहीं पाते, वही सूरत कभी-कभी जाने

नारी क्या—एक पहेली ?

किस प्रेरणा के आवेग पर वह अलौकिक मूरत बन जाती है कि आँखें अनायास उसे पलकों पर बिठाकर दिल तक उतार देती हैं। जिस ध्वनि को हम निरन्तर सुनते रहते हैं और सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं, वही कभी-कभी एक अश्रुतपूर्व सुर का सुरूर लेकर, हमारे कानों के जीने से उतर हमारी अनुभूति की तह में पैठ जाती है।

‘सलीम’ बचपन ही से ‘मेहर’ को देखता चला आया था, और जब देखा तब पाया वही लहँगा—वही दुपट्टा; मगर एक दिन अनायास उसने उसमें जाने क्या देख लिया—जाने क्या पा लिया, कि फिर जीवन में देखने को कोई सूरत न रही, न पाने की कोई हसरत।

हठात् उसकी पीठ पर थप-से कोई हाथ पड़ा। वह चट पीछे मुड़ा—“अबे तू कहाँ से ?”

“वाह, तुझे पता नहीं। महन्तजी के बरामदे में तेरा नाच है न ?”

“आज तो यार, मैं नाचता नहीं।”

“सो क्यों, मेले की हवा लग गई क्या ?”

“साजिन्दे भी तो नहीं हैं।”

“तुझे पता भी है ? सारङ्गिए सब आ गए, बस तबलिए की तलाश है। कोई न मिला तो मैं भाड़े का टट्टू...!”

“तेरे बजाये क्या होगा भला !”

“क्या होगा ? तेरे बाप का श्राद्ध ! भला कह

जानौ-घुनी-देखी

तो, यहाँ हम सब पेट बजाते चलें, आखिर हवा पीकर जियेंगे ?”

“तो चल, आता हूँ ! कमर तो पिरा रही है। उस किसुनी साँई ने घंटों नचाकर बन्द-बन्द तोड़ डाला ! कौड़ी कोस की दौड़, लेने-देने को साढ़े बाइस ।”

“अच्छा ! तू उसके पाले पड़ा था ? वह मनहूस, मक्खीचूस !.....चल-चल, यहाँ क्या खड़ा भीक रहा है ?”

“अरे तू तो बड़ा वैसा है यार ! ठहर न ! जाने कौन गा रहा है, बड़ा मीठा गला है ।”

“अबे, ‘मिसरी’ है न ! वही बुलाकी की बेटी ! भूल गया क्या ?”

“भाई, मिसरी के गले में मिसरी की डली है जैसे !”

“मगर चितवन में जो छुरी है !—

“सितम है नुकीली छुरी उस निगह की,

कलेजे में रखने के काबिल वही है ।”

“छुरी ही सही, मगर मिसरी में पगी है यार !”

मोहन जाने क्या गुनगुनाता हुआ आगे बढ़ गया । बिदेसी डूब गया फिर उसी तंरग में ।

हाँ, तो वह उस गले से परिचित था, उस गंध से तो परिचित था ही । मगर आज उस गाने में, उस गंध में जाने किस रहस्य का उद्रेक, किस पुलक का

नारी क्या—एक पहेली ?

प्लावन था कि उसकी सारी चेतना यों जगमगा उठी । वह खड़ा-खड़ा डूबता-उतराता रहा । मालती का लख-लखा प्राणों में खुब चुका था ; सुर का सुरुर उसकी अनुभूतियों पर थिरक रहा था ; और वह उसी प्रवाह में उबचुब वह चला । बहते-बहते अतीत के एक विस्मृत मुहूर्त्त के साये में आ लगा ।

वह देखता है कि बड़े भाई की ससुराल का घर है, खपरैल ही सही ; पर कैसा लिपा-पुता सुहावना आँगन ! बाईं ओर नीम के गाँछ-तले मैनी गाय बँधी है । उसकी भूरी बछिया उचक-उचक कर एक मेमने को छेड़ रही है । वह बकरी का बच्चा चौकड़ी भरना चाहता है, पर भर नहीं पाता है—उठता है और गिरता है । सामने तलैया के किनारे एक कौड़ाही, तैरती पोठियों पर टक लगाये, चुप बैठी है ।

और फिर वह देखता है कि आँगन के एक कोने में पीढ़े पर बैठा वह चूड़ा और गुड़ दही में लपेट कर खाये जा रहा है, और भाभी बैठी पंखा झल रही है—‘मिसरी’ परस रही है ।

“कुछ नमकीन नहीं है भाभी ?”

“हाँ, लो, यह भूँजा है और चटनी ।”

“भाभी, यह चटनी तो बड़ी फीकी है—जैसे मिसरी में घुली हो ! ”

“क्यों री मिसरी, तूने नमक की जगह चीनी तो नहीं

घोल दी है। पुदीने की चटनी ज़हरीली न रही...।”

“यही तो मैं भी कह रहा हूँ। मगर बात तो यह है भाभी, जब मिसरी फूट कर लाल मिर्च होगी तब न किसी की चटनी में ज़हर घोलेगी।”

—कि इतने में ‘दुत्’ की कूक देकर मिसरी ने दही की कटोरी उलट दी।

मिसरी चितवन पर तेवर चढ़ाती हुई उठ पड़ी दही की कटोरी को तो झन-से उलट ही दिया, दीदी के लाख इसरार पर भी सीढ़ियों से खट-खट नीचे उतर गई।

“बाप रे, गले में ऐसी मिसरी और मिजाज में ऐसी मिर्च !”

वही मस्तानी गति, वही ‘दुत्’—आज विद्युत् की तरह अतीत को चीरता हुआ उद्भासित हो उठा।

विदेशी के, होठों की फाँक पर मुस्कान की एक रेखा-सी खिंच आई।—हाँ, फिर तो उसने कभी देखा नहीं। देखने का कोई अवसर ही न हुआ, तीन साल गुज़र चुके।

तो क्या आज भी वह क्वॉरी ही है—किसी के होठों के रस में वह घुली ही नहीं?...बेशक क्वॉरी है। उसके गले की मीठी लोच तो यही पता देती है। कितना सुकुमार, साफ, मीठा, हल्का गला है। न भारीपन है, न बाँकपन। कंठ फूटा नहीं है। हाँ, मगर अगों पर

नारी क्या—एक पहेली ?

कोंपलें तो फूट चुकी होंगी । छाती भरी न भी हो, उभरी तो जरूर होगी । अंगों पर ललाम लुनाई न हो, चिकनाई तो जरूर होगी । होठों में मद न हो, मधु तो जरूर भर चुका होगा । आँखों में बिजलियाँ न भी हों, कनखियाँ तो खेल चुकी होंगी । शोखी न भी हो, शर्म तो उभर ही चुकी होगी । प्राणों में हवस न भी हो, रस तो उतर चुका होगा । चेष्टा में विलास न भी हो, मिठास तो जरूर होगी ! गले में कला की बारीकी न भी हो, मिसरी तो जरूर घुली होगी ! गति में मौज न भी हो, ओज तो जरूर होगा ।

दुन, वह क्या सोच रहा है, पागल हो गया है क्या ?

हाँ, तो फिर उसने कभी देखा नहीं । देखा तो नहीं, पर सुना तो जरूर है । उसके गले के रस की दो बूँद पीने का अवसर तो मिला था । हाँ, ठीक तो, भादो-अष्टमी का दिन था । वह नाच का बीड़ा लेकर सुदामापुर जा रहा है । रास्ते में बुलाकी का घर पड़ा । भाभी बाप ही के घर थी । वह घंटे-दो-घंटे वहीं रुक गया था । भाभी ने कहा था—“रस के पुए हैं ; चटपट खाकर जाना ।”

शाम का झुटपुटा । आकाश पर बादल बरसाती मस्ती में भूम रहे हैं । भूमते तो थे, बरसते न थे ; हवा उनको उड़ाए फिरती थी । घर-घर हाय-हाय मची थी । रोपा हुआ धान सूख रहा था । मिट्टी टटाकर

जानी-सुनी-देखी

पपड़िया उठी थी। गृहस्थ बिचारे पानी निगार कर हाथ मल रहे थे—उनकी बोझी हुई नाव, पानी बिना, डूब रही थी।

उसने भाभी से छूटते ही कहा था—“मैं बादलों को साथ बाँधे ला रहा हूँ भाभी! कोई बड़ी-सी लग्गी रहती तो खोद देता, तुम्हारे बाप के खेतों पर बरस जाते।”

“तलैया के महादेव जी का अरघा तो दूध से उबचुव है। मगर उनकी पलकें तो पसीजतीं नहीं।”

“दम धरो, आज तुम्हारे खेतों की मेंड़ फूट कर न बही तो बिदेसी नाम नहीं।”

तभी कोठे पर से एक तीखी-सी सुरीली आवाज आई—“दीदी, पाँड़े की पोंड़ पर करैता ठनक रहा है, आज पानी बरसेगा।”

“लो भाभी, अब तुम्हें साड़ी खोल इन्दर महाराज को रिझाने की जरूरत न पड़ेगी।”

“मेघ पसीजें तो छाती जुड़ाव। हरपरवरी गाते-गाते गला बैठ गया। पछैया फिरी है, यही आस है।”

एक हल्की फुही-सी आई। अँधियारी चारों ओर से घिर आई। विधवा की सूनी माँग-सी काली-काली घटाएँ—देखते-देखते टिपटिपाने लगीं। फिर टप-टप बूँदों की झड़ी लग गई—बात-की-बात में झमक पड़ीं,

नारी क्या—एक पहेली ?

पानी हरहराने लगा । तभी कोठे से किसी के सुरीले गले की लहर उमड़ पड़ी ।

ओहो, वही गला है ! वही मिसरी, वही मोहिनी !

‘भादो महीने की अँधियारी रे—हाँ, अँधियारी
बूँदा रिम-रिम बरसे घनाम्कारी ।’

विदेसी के हलक़ में रस के पुए फीके पड़ गये । मन ज़बान से खिंचकर कान पर आ गया । एक गले के रस का उत्स तमाम उमड़-उमड़ कर छा गया जैसे । बूँदों की झड़ी में न दिलचस्पी रही, न पुए के रस में मिठास ।

विदेसी मंदिर के किवाड़ के पास खड़ा—मेले के हुल्लड़ से तटस्थ, दूकानों की चहल-पहल से उदासीन—किसी के लोचदार गले के सुर में डूब गया । नव-वधू के सर के आँचल की तरह वह जगह छोड़ने को तैयार नहीं । उसकी कल्पना की क्यारी में रस की बूँदें झमकने लगीं । उसकी भावना की अटारी पर एक मीठे गले का लहरा झूमने लगा । अतीत की वही स्मृति-कृष्ण कामना की किलोल पर थिरकती हुई उसके चारों ओर एक नवीन माधुरी का आवेश उठाकर भर गई । वह भूल गया कि वह कहाँ है ।

मन्दिर से गाने की आवाज़ बन्द हो चुकी थी; पर वह अपने गाने की हिलोरों में विभोर था । वह लगा ताल देने,

जानी-सुनी-देखी

आँखें मटकाने, सर हिलाने, हाथ चमकाने और कमर लचकाने । मोहन ने पीछे से आकर सर पर एक धौल जमाई—“अजी वाह, तेरे सर पर देवी आती हैं क्या ? यों भूम रहा है बेवजह । चल-चल, यह ले अपना घाँघरा और ओढ़नी !”

२

“हाँ री मिसरी, बिदेसी का नाच देखने नहीं चलेगी क्या ?”

“बिदेसी ! कौन बिदेसी ?”

“यह सुनो ! तेरी दीदी का देवर ! और कौन ?”

दीदी का नाम लेकर जमुनी ने एक दबी हुई आग जैसे उकसा दी मिसरी के अन्दर । मिसरी चुप हो गई; सोच में पड़ गई । आज दीदी नहीं, दीदी का दूल्हा नहीं—कोई अपना नहीं !

मिसरी की आँखों के आगे एक धुँआँ-सा छा गया । मन के एक सुनसान कोने में बादल का जो टुकड़ा उठ आया, उसे बिदेसी के नाच का जादू भी फूँक कर उड़ा न सका । मिसरी उस छाये हुए धुँएँ की टुकड़ियों की तरह में देखने लगी अतीत के उन दिनों को—जब दीदी दालान की दीवार पर तलहथी से ऐपन की छाप देकर तज, दही और घी का टीका देकर देवी का आवाहन

जानी-मुनी-देखो

करती थी, कोने के कलसे पर दीप जगाकर गुड़ के गुलगुले चढ़ाती और मिसरी वहाँ मिट्टी में माथा टेक, जमीन पर आँचल पसार, महारानी के प्रसाद गोद भरती थी ।

“ले, अरे ! चलती क्यों नहीं ।” —जमुनी ने उसे खोद कर कहा —“तुम्हें अपने गले का गुमान है क्या ? तू न जायगी तो मैं तो चली ।”

“कहीं दूर जाना है ?”

“नहीं, यहीं मन्दिर के पिछवाड़े । रामू बहू की मन्नत है न ? बेचारी के केश पकने पर आये तो गोद भरी । महारानी की मर्जी ! आज उसके आँचरे पर बिदेसी का नाच है ।”

और मिसरी सोच रही है—‘यही देवी की मन्नत दीदी ने भी की थी । जाने क्या हो गया कि उसकी फली नहीं । इस बिचारी के दिन फिर गये । भरसक चली है आज देवी का घर भरने ।’

और वह अकचकाकर पूछती है—“तो क्या जमुनी, देवी किसी के दर्द बूझकर नहीं देती ? किसी मन्नत और चढ़ावे की चाट पर दिल खोलती हैं क्या ? यह तो कैसा-सा लगता है, ना ?”

“आखिर कैसा ?”

“यही, जैसा बाजार का लेन-देन ।”

नारी क्या—एक पहेली ?

“भाई, कहाँ नहीं लेन-देन है। कोई बगैर कुछ पाये कभी कुछ देता है ?”

“फिर तो जो कुछ नहीं दे पाता है, वह तो रहा यों ही ! बेचारा लाख रोये-गिड़गिड़ाये !”

“क्या जाने भाई, यह भेद क्या है; मगर देखती तो हूँ कि पानी में ही पानी बरसता है।”

“मैं तो समझती रही भगवान् की देन आप ही छप्पर फाड़कर बरसती है।”

“हुँह, यह बात होती तो दुखियों के घर पर छप्पर के बदले छत पिट गई रहती। आखिर जो तुम्हारी पहले की कमाई होगी वही न तुम्हें मिलेगी।”

“तो फिर अरज-गरज, नज़र-नेयाज़ से फ़ायदा ?”

“वह न हो तो शायद तेरी अपनी कमाई भी नहीं मिलने की।” कहती हुई जमुनी आगे बढ़ चली।

थोड़ी दूर जाकर पीछे मुड़ी और पूछ बैठी—“तो तू न चलेगी क्या ? आज ऐसी खिंची हुई-सी क्यों है ?”

“यों ही !”

“बाप रे, यह रूप न होता तो यह दिमाग न होता ?” —जमुनी मन्दिर के पिछूत की ओर मुड़ गई। मिसरी नव वधू की छाती के आँचल की तरह अपनी जगह पर अड़ी रह गई।

हठात् सारंगी की रिनझिन कान पर लहराती आई। मिसरी के कान खड़े हो गये। सारंगी की पुकार को वह

जानी-सुनी-देखी

अनसुनी न कर सकी । कहाँ वह वैसी खिंची-सी थी, कहाँ उस सुर के तनाव पर खिंच गई । सारंगी की लोच ने उसकी चोटी थाम ली ।

भीड़ जम चुकी थी । मैली धोती-मिर्जई के हुजूम में कहीं कत्ती पगड़ी और कहीं टेढ़ी टोपी भी लहालोट है । एक ओर रंगीन चुनरियों और लहरिया चादरों के हंगाम में बन्दनी और भुलानियों की चमक दिहाती रंगीनी की डौंड़ी पीट रही है । आँचलों की ओट से चितवन की चाँदनी गोधूली की म्लान आभा में एक रंग बिखेर रही है जैसे !

तबले पर ताकधिनाधिन थिरक रहा है । सारंगी के बोल में सरगर्मी आने लगी । हठान् मोहन ने बिदेसी को धक्के देकर सामने कर दिया—“ले, आज क्या हो गया है तुम्हें !”

हठान् बिदेसी ठमक कर सामने आया । कमर में घाँघरा, छाती में रंगीन नीमास्तीन, सर पर गुलेनार ओढ़नी, ललाट पर बिन्दी, पीठ पर चोटी । उसकी आँखें चूर हैं—जैसे किसी नशे में भ्रम रहा है । उसकी गर्दन हिली, कमर लची और अँगुलियाँ थिरक पड़ीं; और एकबारगी कंठ फूट पड़ा—‘बूँदा रिमझिम बरसे घना-झारी ।’

“अजी बाह, कहाँ वह चले ? साज किधर, गला किधर !

नारी क्या—एक पहेली ?

वह पूरब, तुम पच्छिम ! फागुन में भादो की धुन ?
तुम्हारे सर पर बादल छाया है ?”

सारंगिण ने अपना हाथ रोक लिया । वह हक्का-बक्का
आँखें फाड़ बिदेसी का मुँह देखने लगा । तबले की थाप
थर्राकर बैठ गई ।—“आज यह पागल हो गया है
क्या ?”

बस, बिदेसी चौकड़ी भूल गया, नशा हिरन हो गया
—लजाकर पानी-पानी हो रहा ।

तभी किसी के खिल-खिल हँसने की सुरीली आवाज़
उसके कानों पर चाबुक की चोट की तरह टकराई । उसने
मुड़कर देखा—“अरे यह मिसरी है क्या ? वही है, भूल
नहीं ।”

जमुनी के कंधे पर झुक कर वह खड़ी थी । उसकी
भूल पर खिल-खिला पड़ी थी । तो क्या बिदेसी की
फिसलन पर यह व्यंग्य-भरी—कौतुक-भरी हँसी थी ?

उसकी बड़ी-बड़ी आँखें कानों तक खिंची हुई लपक
कर जैसे बिदेसी के कान थाम रही है ।

बिदेसी की आँखें उन आँखों की मार पर झिंप गईं ।
उस हँसी की नुकीली धार उसके कलेजे पर बोल उठी ।
वह कट-कट गया और ऐसा टूट गया कि न दिल खोल
नाच सका न गा सका ।

नाच का रंग जमा नहीं, बिदेसी ने वैसे मोहन बहू
के आँचल पर ठुमुक-ठुमुक कर जाने कितनी भाँवरें

जानी-सुनी-देखी

भरीं—बस, एक रस्म की तामीली । दिल उठे, तब न गला उठे । सारंगी की रिनभिन कंधे लगाने से बाज्र न आई; पर बिदेसी का दिल जाने किस लाज पर कमर थाम जो बैठ गया, वह आखिर उठने को तो उठा, पर घुँघरू बाँध थिरक न सका । उस छोकरी ने हँसकर तमाम रंग पर पानी फेर दिया !

एक आवाज आई—“उसी हँसी पर तुम्हारे पित्ते पानी हो गये ! मर्द बनते हो ?”

एक ने कहा—“यार ! बतीसी न गड़ी है ! भरसक हज़रत शर्म से गड़ गये !”

और मिसरी ने जमुनी का कंधा खोदकर कहा—
“ले, चल, देख लिया—बड़ा गुनवाला है तेरा मौगा ।”

“तू तो अपने आगे किसी को समझती नहीं ।” आज हो भी गया है जाने क्या उसे । ऐसा बकलोल तो वह कभी का न था । शायद तू जो सामने पड़ गई, बहक गया उसका मन, नहीं तो देखती जो वह क्या है !”

“बाप रे, यह उसकी अपनी चोटी है क्या ?”

“जैसे कि तू जानती ही नहीं ! आखिर तू हँसी क्यों ? उसकी भूल पर ?”

“यों ही ।”

“वाह रे यों ही ! रूप का दिमाग ? बतीसी की बिजली

नारी क्या—एक पहेली ?

गिरा गई उसकी सूरत पर ! उसकी सूरत पर चितवन की
चाँदनी तनी रहती है, तू क्यों उँगली उठायेगी ?”

“मर्द की सूरत पर आँचल की ओट मुझे जाने क्यों
कैसी लगती है । यह जनानापन की रंगीनी...”

“यह तो बिचारे की रोटी है । तेरी छाती क्यों...”

आज बिदेसी हमारे गाँव में आकर बस गया है। बाबू-भैया का गाँव ठहरा। यहाँ उसकी रोटी के मुभीते हैं। यह-वह, हर रोज़ एक जशन है यहाँ। वैसे तो गले की पूछ कहाँ नहीं है; मगर हमारे यहाँ पूछ कौन कहे, उसकी तो लूट है। मंदिर हो तो, महफिल हो तो, छोटे-बड़े सभी रसिया हैं। और सोने पर सोहागा—बिदेसी के गले में मिसरी तो है ही, कमर में बिजली भी है। देहाती जीवन में एक गनीमत है वह।

जमुनी तो कहती है कि यह मिसरी के गले का जादू है जो उसे यहाँ बाँध रखता है। यही सही, आँखों-आँखों से दिल का आना तो आम बात है, कोई गले से गला मिलाकर भी तो लाये !

हाँ, मिसरी में ध्वनि-ही-ध्वनि है या और कुछ भी है उसमें। वह सुनने को ही मीठी है कि देखने को भी ? उसमें वह जो कुछ सुन पाता हो, यह बात और है; मगर

उसमें कोई क्या देख पायेगा—यह तो जो देखे, वह जाने । हमने तो कभी कुछ खास देखा नहीं । वैसे तो स्वास्थ्य और यौवन की मौज का हर संगम आँखों का तीर्थ है; मगर यह मेल-जोल होते हुए भी मुँह पर पानी न रहा तो आँखों की सद्गति इस त्रिवेणी में डुबकी के बगैर संभव नहीं । मगर हम भूलते हैं, लावण्य की यह तीसरी धारा तो वैसी प्रकट नहीं । रूप तो दृश्य में नहीं, द्रष्टा की आँखों में है । यह मजनु की आँखों का ही करश्मा है कि लैला की कालिमा भी सुषमा में पलट गई !

कौन कहे, बिदेसी की आँखें मिसरी में क्या पाती हैं । हम उसकी आँखों देख पाते तो कहते ।

हाँ, हम यह कदापि नहीं कहते कि मिसरी तो बस यों ही-सी थी । न सही रूप की रानी, एक अपनी फितरत थी उसकी । तिस पर इस सिन के निखार का नूर क्या कम है ? जवानी आकर चेहरे पर जो रंग चढ़ा देती है, वैसी चमक और चिकनाई 'पेंट' और 'पाउडर' को सौ जनम में भी नसीब न होने को है । आँखों को भी, उनके अनजाने ही, वह जिस कटाक्ष और बाँकपन की तालीम दे जाती है, वह कला की बारीकी किसी के सीखे नहीं आती—न किसी 'टेक्नीक' का मुँह जोहती ।

मगर मिसरी जनम की दुखिया थी बिचारी । बिदेसी तो बिदेसी, वह तो और भी कहीं की न थी । माँ रहती तो जाने कभी वह किसी की घरवाली हो जाती । बाप

को पहलवानी से फुर्सत न थी—उस पर उस्तादी की कलङ्गी; चेले-चाटी चीनी के चींटे की तरह घेरे रहते बराबर। बूटी छनती रहती—इधर केसर और बादाम-पिस्ते की खपत घर की खेती-बारी हज्जम करती गई, उधर आठों पहर नशे के उफान में मिसरी बड़े घर की रानी बनकर उसके सपनों के अंजुमन में नाचती फिरती।

शागिर्दों की मुँहदेखी लन्तरानियाँ उस स्वप्न के धरातल को ऊँचा ही रखतीं। जमुनी ने एकाध जगह बात चलाई भी, बिदेसी की चर्चा भी की; मगर एक न चली। ‘भला उस्ताद, हमारी रानी-बिटिया क्या ऐसे घर जायगी?’ बस, इस ऐसे-वैसे में, न वह ऐसे घर गई—न वैसे घर गई; उधर बाप को यम के घर जाने का परवाना आ गया।

अड्डा टूटना था कि चेले-चाटी उड़ गये—एक ‘पलटू’ घुस-फुस करता रह गया। मिसरी उठ आई जमुनी के घर, जो रिश्ते में रही उसकी दीदी की बड़ी ननद।

बड़े बाप की बेटी थी मिसरी। एक अपनी निराली शान निभाती चली। एक अपनी नज़र, अपनी धुन। मन-ही-मन सह लेगी; पर कहीं आँचल न पसारेगी। मजाल है कि कोई उसे उसकी मर्जी के खिलाफ मोड़ दे।

अगर बिदेसी की पैठ हर महफिल में थी तो मिसरी

नारो क्या—एक पहेली ?

की हर महल में। यों रोना-गाना तो दिहाती औरत के लिए बात-बात का तकिया है; मगर मिसरी का गाना तो दिल की उमंगों का तराना था। सयानी बहू और बिटिया तो उसे जब पातीं, तो कुछ न पूछिये, उसका बन्द-बन्द ढीला करके छोड़तीं। ढेंकी और चक्की पर तो दुनिया गाती है, मगर मिसरी दही बिलोते गाती, लोइयाँ बेलते गाती, बड़ियाँ काढ़ते गाती, सुपारियाँ कतरते गाती और मसाले कूटते गाती।

जभी तो वह हमारे यहाँ अन्दर आकर जम गई। जमुनी के साथ आने-जाने लगी और दो दिन में बुल-मिल गई।

आज कोई सर पर होता तो अबतक बिचारी के सर पर सिन्दूर न होता? एक तो गला मीठा, दूजे नया उठान। उसके चाहने वालों की कमी न होती। मगर वह किसी भी ढीले किसी को पास फटकने दे तब तो।

जो हो, बिदेसी को चाहे वह फटकार बता दे—हे जैसा भोला वह ! न शान, न गुमान—पर पलटू को धमकी देना या धता बताना एक आफत का सामना था। वह एक लड़ैत, लठैत; तने पुट्टे, दूटे कान, गर्दन पर धूल ! जब वह जमुनी के कोठे पर उस्ताद की बिटिया का हाल-चाल लेने आता तो एक आतंक-सा छा जाता कि यह लफंगा कब क्या कर बैठे। जमुनी और

मिसरी की, मालिक के महल में, पैठ न होती तो वह इस परिचय के सूत्र पर जाने क्या तूमार बाँधता ।

बिदेसी थोड़ा चुस्त और चरफर होता तो दीदी के देवर के नाते अपनी जगह का दावा रखता ; मगर वह एक लक-लक, लजकोंकड़, एक अजब टुटपुँजिया, लाज और लिहाज में चूर — आँखें सीधी करते जाने क्यों काँप उठता है ! शायद उस दिन वाली भूल पर । मिसरी की वह व्यंग्य-भरी हँसी की नोक उसके कलेजे में आज भी गड़ी है, और वह हो-न-हो अन्दर-ही-अन्दर सपने सँजोता रहता है कि ऐसा दिन आता जब मिसरी की आँखों में अँगुलियाँ डाल वह दिखा देता कि बिदेसी अपने गले के बल पर किस ऊँचाई को छू सकता है । वह धनी नहीं, गुनी तो है ।

जमुनी एक दिन यों ही बातों-बात में खुल पड़ी कि हो-न-हो, मिसरी तो एक अजब उलझन में है ; नहीं तो वह उस पर कभी तो खुलती । उसकी आँखें उसे एक ओर खँचती हैं तो कान दूसरी ओर । बिदेसी का गला कहीं सुन लेती है तो फिर जैसे एक आवेश-सा छा जाता है उस पर—वह अपने-आपमें भी नहीं रह पाती । पर वही बिदेसी जब-कभी सामने आ पड़ा तो उसकी आँखों में एक हल्की-सी भी लौ नहीं खेलती । उधर मिसरी की आँखों में पड़ उसकी आँखें भी शर्म से झुकी जाती हैं बराबर ।

नारी क्या—एक पहेली ?

पलटू की घनघनाती आवाज़, उसकी भक्तिमय हाँक-डाँक या उसकी उजड़ू चाल-ढाल पर मिसरी जी से भिन्नाई रहती है—किसी बात पर कान देना तो दरकिनार रहे। मगर वही पलटू जब सुबह उसके मकान के पिछवाड़े नंग-धड़ंग काछा बाँध और सीना तान लगता है जोड़ियाँ फेरने, तो मिसरी की आँखें, मिसरी से भी चुराकर, जैसे उस ऐंठी पेशियों की जवानी के जलूस को चूम ही लेती हैं अक्सर।

मगर यह सब तो खैर ! जमुनी के जरखेज दिमाग की फसल ठहरी। किसी के फरिश्ते को भी पता न था कि मिसरी के दिल का रवैया क्या है—यह आँख और कान की खींचतान आँख और कान तक ही सीमित है कि दिल के अन्दर तक उतर चुकी है।

४

भादो का महीना । कृष्ण के जन्म का उत्सव । मथुरा से मण्डली आई है । मन्दिर में बड़ी चहल-पहल है । छठी के दिन तो चौड़े बरामदे में तिल रखने की भी जगह नहीं । राधा की खीझ और कन्हैया की रीझ, और रीझने-रिझाने की मानलीला । देवता विमान पर चढ़ फूल बरसाने आए या नहीं—पता नहीं; मगर हमारी लालसा तो उस लीला के लावण्य पर तैरती हुई आँख और कान की राह मूसलधार बरस पड़ी ।

दूसरे दिन मन्दिर जो गए तो देखा, लीला शुरू होने में थोड़ी देर है; तबतक हमारे भक्तराज गोविन्दलाल जी भक्ति का रहस्य समझा रहे हैं । बड़ी मीठी ज़बान !

“भगवान तो हमारे हाथ हैं भैया ! जब चाहें, जहाँ चाहें, उन्हें बुला लें ।”

हमारे भाई साहब मुकुन्दलाल वहाँ मौजूद थे । चट बोल उठे—“सो कैसे महाराज ? कोई यहाँ चाहे तो उन्हें तलब कर लेगा ?”

नारी क्या—एक पहेली ?

“क्यों नहीं, वह चाहे भी तो ! और, वैसी चाह तो हो ! वह दुनिया को न चाहे, उन्हें चाहे; वह दुनिया के लिए उन्हें न चाहे, उन्हीं के लिए उन्हें चाहे ।”

“और अपने लिए चाहे, तो ?”

“खैर, वही सही । वह अपना और उनका एक होकर रहेगा—देख लेना । यह हमारा अपना भाव है कि हम पत्थर को भी देवता बना कर धर देते हैं । तो भाई, समझो, आदमी धन चाहे, धन पावे; गुन चाहे, गुन पावे; नाम चाहे, नाम पावे; भगवान चाहे, भगवान पावे । हाँ, भगवान को चाहने के बाद कुछ और चाहने को बाकी नहीं रहता । बस, सब कुछ हमारी इस चाह के पैमाने पर है ।”

“ऐसा ?”

“और क्या, भैया ! तुममें क्या तेज नहीं है ? अपने को इधर-उधर से खींच कर उस पर जमाओ तब न !”

वहीं बिदेसी भी बैठा था । आया था कन्हैया की लीला देखने ।

“तो ले बिदेसी ! तू चाहे तो एक देहाती नचनिया से ऐसा कन्हैया हो जाय ! है जोर तुझमें ?”—भाई साहब ने रासलीला के लिए प्रस्तुत वृन्दावन की उस मण्डली के कन्हैया को दिखाकर कहा ।

“यह कौन बिदेसी है, भैया ?”—भक्तराज ने पूछा ।

“है यों ही एक—देहात का गवैया। मजे का गा-नाच लेता है।”

“तो क्या हुआ, वह चाहे तो क्या न कर ले ! इतना किया तो क्या ? कन्हैया का रूप ही क्या, कन्हैया तक पा ले वह !”

“अच्छा, विदेसी ! बस, ले, यह मौका फिर नहीं आने का । यों गली-गली मारा फिरता है; अब जरा ऊँचे होकर चल ।”

“ना-ना मालिक, हमसे यह न होने का ।”

लगा वह थर-थर काँपने ।

“अबे, होगा क्यों नहीं ? यों दिल हारता है कोई ? ऐसी भी क्या चीज है, भाई मेरे, जो तू जी से भरपूर चाहे और न हो । अभी महाराज के मुँह से सुना नहीं तू ने ?”

यों विदेसी के प्रकाश में आने का सूत्रपात हुआ । यही लेकर उसकी दुनिया बदलने पर आई ।

भाई साहब ने उसे तैयार करके ही तो छोड़ा । उसकी एक न सुनी । अपने पर भरोसा न था उसमें । वह रह-रह-कर घबरा उठता रहा । मगर जब भाई साहब ने उसे रौ में ला दिया तो फिर उसके सर वह धुन सवार हुई कि उसने सारी कमाई इसी रंग में उड़ा दी । शहर से तमाम सामान खरीद लाया—मुरली, मुकुट, लकुट, और जाने

नारी क्या—एक पहेली ?

क्या-क्या । किसी एक हमजोली को राधा के पार्ट के लिए तैयार किया । खुद बना कन्हैया ।

हमारे कान तक भी बात आई । हमने तो उसे एक यों ही समझ रखा था—गाँव का एक टुटपुँजिया नच-निया । भाई साहब से अपनी आशंका भी जताई कि वह जाने कहाँ का एक राँवार दिहाती ठहरा—उसे मन्दिर पर खड़ा करोगे तो बड़ी किरकिरी होगी । पर वे काहे को सुनें ! चट जवाब दे बैठे—“तो सजावार हम ! और शोहरत हुई तो ?”

“फिर तो बिदेसी हमारे सर और आँखों पर है ।
‘गुणः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः’ ।”

आखिर तमाशा होकर रहा । मानलीला का सीन तो उसने ऐसा खड़ा कर दिया कि दिल लोटकर रह गया । एक दिहाती भुच्च के लिए यह एक मार्के की-सी बात थी । मथुरा वाले भी दाद देकर रहे कि यह एक ही होनहार है । राधा और ललिता तो खैर, खोगीर की भरती । नकली—जैसे-तैसे निवाह कर ले गईं; मगर कन्हैया तो वह रंग लाया कि एक समाँ बँध गया !

भादो का महीना फिर आया। अबकी मथुरा से मण्डली नहीं आई, गवैये आये। और, यह तय रहा कि एकाध दिन बिदेसी अपनी वह कन्हैया वाली लीला खड़ी करे। उसने फिर रंग जमा दिया! और बस, एक बिजली-सी दौड़ गई अन्दर और बाहर! उसकी मुरली क्या बजी, उसकी दुन्दुभि बज उठी।

और बस, अन्दर की फरमाइश आई कि हमें भी दिखाइए। यह तो एक नया गुल खिला! हमने कहा, 'दम धरो, राधा तो फिलहाल कोई है नहीं, वैसा जोड़-तोड़ कोई मिले तो तुम्हारी भी मुराद पूरी हो।'

भला वे काहे को सुनें? चट रूठ गई—'आखिर जैसे अबतक चला है, एक दिन और सही।'

हमने कहा—'चला-वला कुछ नहीं, यों कहो कि जैसे-तैसे निभ गया। मगर अब तो वैसा भी संभव नहीं।'

वह लड़का जो राधा बनता रहा, रात से ही बुखार से चूर है ।”

“तो किसी और को खड़ा करो ।”

हमने देखा कि तिरिया-इठ है; अपनी जिद से टस-मस न होंगी । तो भई, एक ऐसी वजह पेश करो कि न नौ मन तेल हो, न राधा नाचें ।

“तो तुम मिसरी को क्यों नहीं खड़ा करती ? ऐसी कौन बड़ी परदेवाली है वह ? वह भी, अन्दर आँगन में तो लीला होगी । वह आए, तो जोड़-तोड़ का लुत्फ भी आए ।”

और, यों हम अपनी जिम्मेवारी उनके सर ठोंक मूछों पर ताव दे उठे । हम तो जमुनी से सुन ही चुके थे कि मिसरी कभी राजी न होने की । चलो, जान बची । यह अन्दर की फरमाइशों का सिलसिला शुरू होता तो रोज़ एक नया किस्सा खड़ा हुआ करता ।

मिसरी तैयार न होती रही । वह पर्दानशीं न थी; मगर मर्दों के सामने तो किसी ऐसे समारोह में कभी गाती-नाचती न थी । वे ही जानती हैं कि उसे राजी करने में कैसा पसीना छूट गया उनका । बड़ी कहा-सुनी के बाद वह इस पहलू पर आई कि यों गाने को तो गा देगी वह, मगर मान-भंग के अन्तिम स्तर पर जो एकाध नाच है, उसे अदा न कर पाएगी । आखिर इसी शर्त पर किसी तरह उसकी सहमति ले ली गई ।

बस, कुछ न पूछिए उस रात की बात। कन्हैया ने तो वह कर दिखाया कि उसमें दिखावे की कोई गंध भी न रही। उसे तमाशा कहना भी उसका तमाशा करना होगा। क्या गाना, क्या भंगिमा, क्या निगाहों के इशारे—बस, उच्छ्वसित प्राणों का जैसे तक्राजा था। वही गला है, वही गाना। फिर भी यह क्या वही गला है, वही गाना? गले में दिल आ गया जैसे, गाने में भी जान पड़ गई अनूठी!

मिसरी के तान-तेवर भी कुछ ऐसे थे कि राधा की पेशानो पर भी वैसे बल क्या रहे होंगे! उसने भी देखा कि वह अगर अपनी शर्म पीकर यह मान का दौर निभाती नहीं, तो वह अपनी भद्क-कर धर देगी। हाँ, उसका पाठ तो कुछ ऐसा था नहीं कि उसे चक्कर में डालता। मगर मुश्किल में वह तब पड़ी जब बिदेसी ने उसके चरणों पर सर रख जैसे अपना कलेजा रख दिया।

और, उस तमाशे के दौरान में बिदेसी का हाथ मिसरी के पैर पर जा पड़ा। हाथ का हाथ धरे सर भी आया, और सर का हाथ धरे अन्तस्तल भी आया हो तो अचरज क्या?

मिसरी ने चटपट पाँव तो खेंच लिये; पर उस क्षणिक स्पर्श की गुदगुदी बिदेसी के पोर-पोर में बिजली की तरह समा गई। वह चौंका, सहमा, थर्राया, थिरका—भुक आई उसकी आँखें, तमतमा उठा उसका चेहरा,

नारी क्या—एक पहेली ?

भूल गया अपना पाठ—गा रहा था क्या, और गा गया क्या !

यह सिहरन की लहर तो बाहर सतह पर थी, जिसे किसी की दूँदती निगाह एक ज़रा-सी छानबीन पर भाँप लेती; अन्दर क्या थी, क्या नहीं—कौन कहे ? मगर उसका आवेश-विह्वल स्वर क्या किसी दिल की गहरी उमड़न का इशारा नहीं देता ?

तो यह तमाशा ही तमाशा हो गया क्या ? यह तो अभिनय नहीं, उसके प्राणों का अर्घ्य है ! कल भी तो उसने मंदिर पर यही खेल खेला था और खूब खेला था; फिर भी यह खेल क्या वही खेल है ? है भी कोई खेल यह ? अगर यह भी खेल है तो फिर विश्व में किसी के जीने-मरने की बाज़ी भी खेल ही है ।

हाँ, उसका भाग्य इस खेल के हीले से एक बड़ा निष्ठुर खेल खेल रहा है उसके साथ । यह तो है नहीं कि वह एकाएक ऐसा कलाकार हो गया कि हमारी पहुँच के बाहर ।

जो हो, हमें यह खुलने को बाक़ी न रहा कि बिदेसी के जीवन की सार्थकता के लिए मिसरी जरूरी हो या नहीं, उसकी कला के लिए तो यह एक मूर्तिमती प्रेरणा है । इस चाँद की चाँदनी—इस नगीने की रोशनी है यह ।

आज राधा मिसरी न होती, तो मिसरी राधा न हो

पाती । न वह दिल होता, न वह महफ़िल जमती ।

हमने देख लिया कि बिदेसी गाने-नाचने में ही फ़र्द नहीं है, उसके प्राणों में कला की किलोल भी है । जब देहात के हवा-पानी में यह अंकुर इतना सरसब्ज रह सका, तो फिर तालीम और कल्चर के अनुकूल वायुमंडल में तो यह उचक कर आसमान चूम लेगा—मगर हाँ, उसकी सपनों की यह रानी उसके सर पर अपने आँचल का साया ताने रहे ! यह अपढ़ गँवार जाने किस अज्ञात अतीत से संभावनाओं की एक संपत लेकर आया है । और, हमारा हृदय एक पुलक से थिरक उठा कि उसे ऊँचाई तक उठाने में हमारा भी एक हाथ है ।

वह सीन—वह अनन्त मुहूर्त्त—हमारी आँखों के सामने ज्यों का त्यों है, जब बिदेसी का सर उसके चरणों के पड़ोस पर ढलक आया और मिसरी के होठों पर एकाएक मुस्कराहट की एक पतली-सी रेखा फूट आई । और, हमारे अन्तर से कोई मचल कर पुकार उठा कि ‘अरे भाई, मान जाओ, यह तमाशा नहीं, दिल का तक्राजा है; तुम्हारी तो मौज ठहरी, उधर जान के लाले पड़े हैं ।’

खेल खत्म हुआ और जैसे एक झोंके-से हम सोते से जाग उठे । देखा, एक ओर उधर सहेलियों के बीच बधाइयों से सिहरती हुई लजाई-सी मिसरी खड़ी है—दूसरी ओर ‘शाबाश पट्टे !’ की मुबारकबादियों की झड़ी के अंदर काँपता-झिंपता-सा बिदेसी खड़ा है । वह शायद

नारी क्या—एक पहेली ?

थरा रहा है कि तमाशे के आवेश में पड़ उसने सबके सामने अपना दिल चीर कर धर दिया। 'हाय, हमने क्या कर दिया !'—एक शर्म है उसके चेहरे पर—जैसे वह कहना चाहता हो कि 'न भाई, वह तो एक तमाशा था।'

और, फिर एक सहमी निगाह से वह मिसरी को देखने लगा कि कहीं वह तो बुरा न मान गई। अबे पागल, वह क्यों मानेगी ? वह नारी नहीं है क्या ! कहीं नारी भी किसी के समर्पण के अर्घ्य पर भवें तान पाती है ? वह बिस्मिल की फरियाद लाख अनसुनी कर दे ; पर उसकी मचलती तड़प पर उसके कलेजे को ठंडक ही मिलती है।

मगर बिदेसी दूसरे ही पल सम्हल उठा। समेट लिया अपनी बिखरी भावनाओं को। और, चारों ओर की पिटती तालियों के अन्दर एक भूमते हुए ऐक्टर की तरह नेपथ्य की ओर मुड़ चला।

हमने उसकी पीठ ठोंक दी—शाबाश पट्टे ! मरे जा, जिये जा ! उसके गले में सोने का एक कंठा बाँध दिया और अन्दर और बाहर हर सहृदय के होंठ पर यह दुआ-अनायास उठ आई कि आज की जोड़ी जुड़कर एक हो जाय। अन्दर तो मिसरी की वह बलैया ली गई कि वह फूली न समाई—बिदेसी की 'जयध्वनि' के नारों को जी खोल पीती रही। जिस गावदी की भद्दी भूल पर एक दिन वह ताने मारकर हँस पड़ी थी, वही फिसड्डी आज लोटपोट कर मीर हो गया—मीर !

जानी-सुनी-देखी

और जब दूसरे दिन हमने अन्दर सुना कि वह सोने का कंठा मिसरी के गले में रौनक है, तो हम खुशी से उछल पड़े कि आखिर वह मान-भंग की लीला तमाशा ही न रही, सच्ची उतरी। लो भाई, गले से गला मिलाकर उसने दिल से दिल भी मिला लिया।

हाय रे जालिम ! आखिर तूने पहचाना कि यह तेरा चाहनेवाला क्या है ! वह दिखता है एक उजबक जनखा तो क्या, उसके अन्दर भाव और व्यंजना का एक दरिया लहरा रहा है, जिसे वह जिधर मोड़ दे, एक तूफान उठा कर धर दे। ले, तेरी आँखें खुल गईं, नहीं तो अपने गुमान में तू अंधी की अंधी रह जाती।

रात के नौ बज रहे होंगे । मिसरी आँगन में बैठी कोई गीत गुनगुना रही है । बादल छँट गए हैं, चाँदनी छिटकी है । ओसारे के ताक पर दीया टिमटिमा रहा है । जमुनी खाट पर बेखबर सो रही है ।

हठात् किवाड़ के पल्ले पर एक धक-सी आवाज़ आई । अन्दर से किल्ली लगी थी, किवाड़ खुले नहीं । मिसरी के कान खड़े हो गए । शायद उसकी आँखों की कोर में एक मुसकान-सी खिंच आई—हो-न-हो, बिदेसी है । मगर दूसरे ही पल वह मुसकान उठते-उठते लुट गई । उसके धक्के से किवाड़ ऐसे थर्राते नहीं । वह तो कभी का ऐसा ढीठ न ठहरा ।

—कि आँगन की दीवार फाँद कोई सहन में कूद पड़ा । देखा, पलटू है—काछा बाँधे, माथे में अँगोछा लपेटे । वह ज़रा सहमी । खिभी भी कि यह क्या आया है इतनी रात !

“हाँ री मिसरी ! तू उस नचनिया को ब्याहने जा रही है क्या ?”

“तो तेरा क्या ?”—उसके तेवर पर बल आ गए ।

“छिः ! तू उस्ताद की बेटी ठहरी या किसी.....”

“चल, हट । आया है बड़ा.....” और मिसरी ओसारे की ओर मुड़ चली ।

“ओ हो ! इस सोने के कंठे पर घुल गई तू !”

“न जायगा तू ?”—कहती हुई मिसरी ज्यों ओसारे की ओर लपकी कि पलटू ने भटके से उसके गले में हाथ डाल तोड़ लिया उस कंठे को, और साथ-साथ झपट कर उसे गोद में समेट लेने को हाथ बढ़ाए कि मिसरी चीखकर थर्राती हुई बैठ गई ।

चीख गूँजी । उधर से जमुनी निकली; इधर मुहल्ले में एक सनसनी-सी उठ पड़ी । पलटू की सारी ऐंठ पल में उड़ गई । वह किवाड़ खोल सर पर पाँव रखकर भागा ।

उधर खबर उड़कर हमारे यहाँ पहुँची । हमने घुड़-सवार दौड़ाए । और, पलटू कुछ दूर सदर रास्ते पर पकड़ लिया गया ।

कंठा तो, खैर, बरामद हो ही गया ; उसकी वह मरम्मत भी हुई कि सारी पहलवानी हवा हो गई ।

७

बिदेसी का तो कायापलट हो गया है जैसे । वाह री नारी, और वाह री तेरी जादूनजरी ! जब तू ने मुस्कुरा दिया तो मर्द का रेशा-रेशा मुस्कुरा उठा । तेरी चितवन की लौ ने जैसे जगमगा दिया उसको । बिदेसी क्या वही बिदेसी रहा आज ? वह तेजी, वह दीप्ति, वह फुर्ती है अब कि जाने कहाँ की बिजली समा गई हो उसमें !

वही वह है—वही सुर, वही तान ; फिर भी यह क्या वही सुर है, वही तान ? तान में भी जान आ गई है जैसे, सुर में भी सुख आ गया है सरासर । पहले वह रोटी रहा, अब आनन्द की स्फूर्ति भी हो गया । कहाँ जीविका, कहाँ जीवन !

यों एक पल में कोई क्या-से-क्या हो जाता है ! ऐसी मोहिनी है प्यार की एक चितवन ! जब देखो तब, एक रोशनी खेल रही है उसकी आँखों में—एक फूल खिल रहा है उसके चेहरे पर । गले की मिठास में कोई मादकता

छलक आई—अंगों की छन्दभंगिमा में विलास की एक लीला !

और, हम सोचते कि जिस पुरुष के जीवन में नारी नहीं आई, वह उस ऊसर खेत की तरह उखड़ा रहता है, जिस पर कभी बरसात का पानी नहीं पड़ा। वह न पनपा है, न पनपेगा। उसकी कामवासना ही क्यों, उसकी किसी वासना की प्राण-नाड़ी संजीवित न होगी—न उसके हृदय का कोई पहलू उभर कर निखर पाएगा।

हमने देखा कि हमारी यह ढूँढ़ एक-न-एक दिन अपना जौहर दिखाकर रहेगी। गाँव के धूल-धक्कड़ में भी ऐसे नगीने मिट्टी में लोटपोट हैं, जिन्हें झाड़-पोंछ कर बाज़ार में लाए कोई तो वे अशर्फियों में तुलें !

बिदेसी के अन्दर भगवान की देन गला ही नहीं, प्रतिभा भी है। अब उसकी उम्मीदें लगी हैं हँसने, हौसले लगे हैं खिलने। जो कुछ कमी है—‘टेकनीक’ की। उसे पता नहीं है कि यह कला किस चोटी तक उठ सकी है। वह पता पा गया तो अपना रास्ता बनाते उसे देर न होगी। उसमें यह एक खूबी है कि जो कुछ सुन लिया, उसे गाकर सुना दिया—उसी सुर में, उसी धुन में; और जो कुछ देख लिया, उसे नाचकर दिखा दिया—उसी ताल पर, उसी तोड़ पर !

उसने अभी दुनिया देखी ही क्या है—जितनी देहात में रहकर देखी है, उतनी तो उसकी मुट्ठी में आ गई।

नारी क्या—एक पहेली ?

हमें तो उम्मीद बँधी कि बिदेसी क्या, यह मिसरी भी साथ-साथ एक रंग दिखाकर रहेगी। आज न वह साथ देने में मुँह मोड़ती है। देहात के हवा-पानी में कोई नई चाल जल्द खपने को भी नहीं। लेकिन जब वह बिदेसी के साथ दुनिया देख लेगी, तो आप समझ लेगी कि बिदेसी तो खैर अपना है ही, किसी पराए के साथ भी कला की किलोलों में कोई शर्म नहीं। और, फिर तो यह जोड़ी अपनी एक जगह लेकर रहेगी कला के कुलीनों की महफिल में। बस, भवन से निकल कर भुवन में आने की देर है।

बिदेसी ने अब कहीं नाचना-गाना बन्द कर दिया, बीड़े फेर दिए। हमने कहा कि तू अब कुछ दिन गुणियों के गिरोह में बैठकर रेयाज कर, तुम्हें खाने-पीने की कोई कमी न होगी।

जमुनी से पता चला कि इस इंतजाम से मिसरी भी बेहद खुश है। उसे नहीं सुहाता रहा कि वह घाँघरे डाल कमर लचकाए पैसे के लिए।

बस, यों वह तालाब की मछली समुंदर में जा पड़ी। एकाध दिन तो घबराई, मगर जब उसे ऊँचाइयों और चौड़ाइयों की दुनिया नज़र आई, तो फिर सीना तान तैरने को उछल पड़ी।

हाँ, एक दिन अन्दर आँगन में फिर वह राधा के रूठने और श्याम के मनाने की लीला दुहराई गई। मिसरी

जानी-मुनी-देखी

ने इस बार भी आपत्ति खड़ी की, मगर वह साफ 'हाँ' वाली 'ना' की बानगी थी—किसी पर एक न चली !

ब्याह के साथ दूल्हे से यह ठठोली कुछ वैसी-सी जरूर है देहात के हवा-पानी में; मगर जिनकी रोटी औरों के हाथ है उनकी अपनी मर्जी कैसी ? हाँ, वह उस दिन की लीला कुछ और थी, आज की कुछ और । तब तो जाने कब के रूठे को मनाना था—बिदेसी की एक-एक भावभंगी अपने प्राणों का अर्घ्य लिये मानिनी के चरणों पर पछाड़ खाती रही; अब तो यह रूठना और मनाना जैसे हमारे लिए एक तमाशा था, वैसे उनके लिए भी । उपट आती थी मुस्कान, बहक आती थी जबान ।

बैसाख में ब्याह की बात ठहरी । बिदेसी को इसी बीच अपना एक नीड़ भी बाँध लेना था—छोटा-सा एक खपरैल-घर । कहीं और तो बसने की सुविधा थी नहीं । यहीं पर एक सुदिन देख नींव भी पड़ गई । जमुनी के साथ मिसरी भी गुपचुप उसे देख आई और एकाध अपने सुभीते की फरमाइश भी कर गई । बिदेसी से तो भेंट होती न थी—दिहात के हवा-पानी में तो ब्याह के पहले कोई वैसी लगी-लिपटी एक तूफान उठा देती; मगर हमारे यहाँ आते-जाते आँखों-आँखों में मिल लेना तो कहीं मना नहीं !

यों बिदेसी हमारी इस दुनिया के अंदर अपनी एक

नारी क्या—एक पहेली ?

अलग नई दुनिया बसाने चला—अपने अरमानों की, अपने सपनों की ।

मगर क्या बात है कि कभी तो बिदेसी गुलफुल दिखता है, कभी एकबारगी गुमसुम ! यह पछैया पर पुरवैया और पुरवैया पर पछैया का सिलसिला कैसे चल पड़ा ? यही रवैया तो गले के रेयाज के साथ भी है—आज कमाल है, तो कल पामाल ! मगर इस दुरंगे रुख के अन्दर कुछ रहस्य तो जरूर होगा ।

तो क्या भाग्य ने मिसरी को उसके जीवन में लाकर एक अजब निष्ठुर खेल शुरू कर दिया है उसके साथ ? तो वह उसकी रहमत ही नहीं, उसकी शामत भी है क्या ?

बात यह है कि बिदेसी को यह उम्मीद न थी कि मिसरी कभी उसकी अपनी होगी । यों चाहने को तो अंदर-ही-अंदर वह जाने कब से चाहता रहा; मगर उसकी चाह की तह में उसकी अपनी क्षमता की थाह भी थी । जभी तो वह चाह दर्द की एक मीठी गुदगुदी-भर रही, कुछ बिजली की बेकली नहीं ।

उस दिन कन्हैया बनकर जाने कैसे उसने मिसरी के दिल को छू लिया । उसके गले का कंठा मिसरी के गले में सुहाग का जलवा बनकर फूटा । यह तो जैसे धरती पर चाँद उतर आया ।

यों उम्मीद टुकटुकाई । उसकी दबी आग जाग उठी ।

जानी-मुनी-देखी

मगर साथ-साथ जाग उठी आशंका भी। न आशा आती,
न आकुलता उठती। किसी ने सच कहा है कि

“दिल को कैसा इतमिनान रहता है,
जब कोई आसरा नहीं होता।”

और आसरा क्या, यहाँ तो विश्वास की बिसात
पर गोटी लाल हो चुकी थी। बस, एक रस्म की तामीली
बाक़ी थी।

जो हो, यह आसरा क्या आया, जान का जंजाल
आया। बेकली आई, चैन गया। हौसले पनपे, उमंगें
उमड़ीं। मगर लीजिए, साथ-साथ दर्द उठा, दर्द-सर
आया।

अब जी न माने जबतक वह मिसरी को जब-तब
अपनी आँखों देख न ले—और, उसकी आँखों की ज़बानी
उसके मन की रवानी जान न ले। मगर कैसे देखे, कहाँ
देखे! जमुनी के घर के ईर्दगिर्द चक्कर काटना तो जाने
कैसा होता। वैसे तो वह कहीं निकलती न थी। एक
हमारे यहाँ जब-तब आती; सँझ-सबेरे कुँएँ पर
पानी लेने गई तो गई, या परब-त्योहार पर पास के
मन्दिर में माथा टेक आई।

अब बिदेसी कहाँ से लाए एक नया हीला—एक नया
तरीक़ा? यह तो तय है कि लाख शोर-गुल क्यों न हो,
मिसरी के पैरों की आहट उसके कान पल में थाम लेते।

नारी क्या—एक पहेली ?

यों तो मिसरी से कभी भेंट होती न थी, और न ऐसे किसी मेल-जोल का दस्तूर ही था हमारे यहाँ। बस, राह में आते-जाते एक नन्ही-सी बिखरी मुस्कान, एक ज़रा-सी मुलायम चितवन पा गया, तो फिर क्या न पा गया वह ! दिन-भर की खटन के लिए उछाह के तोड़े भी मिल गए, रात की नींद के लिए मीठे सपने भी ! हाँ 'ढोज़' हल्का रहा तो एक ज़रा-सी फुर्ती आकर रह गई, और कहीं काफ़ी पैमाने पर रहा, तो कुछ न पूछिए, फिर क्या उसके पाँव ज़मीन पर आते ? धरती खिल उठी, आसमान हँस उठा ।

और, बिदेसी ने उस दिन राग और रागिनियों के रेयाज़ में अपना दिल उँडेल कर धर दिया । वह आप-ही-आप गाए जा रहा है, भवें तान रहा है, भाव बता रहा है और थिरक रहा है । अब क्या छिपाए छिपते उसके चेहरे पर उमंगों के आँकड़े ? बस, कमल की कैफ़ियत थी उसकी—प्रकाश पा गया तो खिल उठा, न देखा तो गुम । कहीं हम सामने पड़ गए तो अपने को ज़ब्त रखने की बन्दिश उसे और भी उभार कर धर देती ।

बैठे-बिठाए अपना रंग बदल देना आसान नहीं । इस कला को नारी ही अदा कर पाती है, पुरुष नहीं । वह तो चेहरे पर एक और चेहरा चढ़ा लेती—ऐसा कि क्या मजाल कोई भाँप ले कि यह उसका है नहीं ! तिस

पर बिदेसी-ऐसा अनाड़ी—न उभरते देर, न सिकुड़ते देर। उसके चेहरे की चुहल, उसकी आँखों की चमक किसी जन्त की बदिन्श के तमाम कच्चे चिट्ठे खोलकर धर देती।

एकाध बार तो हम छेड़ की गरज से पूछ बैठे कि “हाँ बिदेसी, वह चीज़ तो तुम्हें याद होगी; ज़रा सुनाओ तो कि जी बहले !”

“कौन-सी सरकार ?”—और वह बड़े अदब से हारमोनियम खोलकर बैठ जाता।

“वही—‘छिपाए भी छिपती हैं हँसती निगाहें !’ और वह एकबारगी शर्म से जैसे गड़ जाता कि हैं ! इस फ़रमाइश की तह में उसका पर्दाफ़ाश तो नहीं है।

मगर ग़ज़ब है यह चितवन का जादू ! बिदेसी के हौसले ही नहीं बढ़ाता, उसके दिल को भी ऊँचा उठा देता है वह। उसमें ऐसी दरियादिली उमड़ आती कि कोई क्या माँग लेगा जो वह न दे देगा आज ! उस घड़ी उसका बस चलता तो वह हमारे तमाम पालतू लाल और तोते के पिंजड़े खोल उन्हें उड़ा देता—उनके पंख सहला उन्हें सत्तू ही खिला कर दम न लेता।

एक दिन वह ऐसे ही नाचता-कूदता-गुनगुनाता जाने कहाँ से आया और हमारे एक बंगाली दोस्त की फ़रमाइश की ताज़ी मछली की सारी टोकरी-की-टोकरी उसने तालाब में उँड़ेल दी और लगा इतमीनान से सीढ़ियों पर बैठ

नारी क्या—एक पहेली ?

आटे की गोलियाँ फेंक उन्हें खिलाने और गुनगुन गाने । भाई साहब ने समझा कि हो-न-हो, पी कर आया होगा, नहीं तो ऐसा पागल की तरह भूमता-थिरकता आता और यों सारी-की-सारी मछलियाँ तालाब में उड़ेल देता ? मगर अपनी-अपनी नज़र ।

हमने कहा—“जी नहीं, यह नशा कुछ और है—साक्री की आँखों की गुलाबी है, उसकी सुराही की नहीं ! आज शायद ज़माने पर उसे नसीब हुआ होगा—वह भी काफी बड़ा ‘डोज़’ !”

“मगर अजब खन्ती है यह ! दो दिन बाद तो वह मयखाना ही उसका होगा—रात-दिन पी कर मस्त रहेगा ।”

“सो तो है, मगर फिर यह नशा थोड़े ही मिलेगा । जब तलाश ही न होगी, तो फिर प्यास क्या होगी ? आज तो उत्कंठा है तो लज्जा भी; आशा है तो आशंका भी । तब न ऐसा पागल का-सा नशा है ! जब पलकें खोलीं, देख लिया और जब आँखें मिलीं, चूम लिया; तो फिर न आँखें तड़पेंगी, न होंठ फड़केंगे ।”

“अजब फ़िलासफी है आपकी ! फिर तो यों ही लौ लगी रहे ! कोई बिस्मिल की तरह तड़पा करे—न मरे न जिए ।”

“और क्या ? लुत्फ़ तो सुख-दुख के मेलजोल में है ।

जानी-सुनी-देखी

कोई एक भी रहा तो लीजिए, सारा गुड़ गोबर हो गया—नीरस, निःस्वाद ।

मगर हमने देखा कि लाओ, इसकी मस्ती भाड़ दें । कौन ठिकाना, यहाँ की कोई चीज़ ही न उठा कर किसी को दे दे । अपना लुटाता है तो खैर, उसकी मर्जी ।

और हमने ज़रा रुख बदल कर उसके कान थाम लिये—“क्यों बे, तूने ये मछलियाँ क्यों तालाब में डाल दीं ? तुमसे गरज ?”

“सरकार, हमसे उनकी तड़प देखी न गई ।”

“मगर तुम तो कभी के परहेज़गार न ठहरे । खाते भी हो, खिलाते भी हो ।”

“तो लीजिए, अब न खाऊँगा । जो हुआ सो हुआ ।”

और हमने सुना कि उसने मछली ही नहीं, कलिया भी खाना छोड़ दिया ।

मगर कुछ न पूछिए उसकी बेकली की—अगर मिसरी अपने वक्त पर कुँ पर पानी लेने या हमारे यहाँ न आई या किसी दिन घर के बाहर निकली ही नहीं। यों कहें कि 'बस खूँ टपक पड़ा निगहे इन्तज़ार से' तो वह सच्ची तसवीर न होगी।

खूँ तो टपका नहीं, बैठ गया दिल, उभर आया दर्द। और, कहीं मिसरी आई भी, तो पेशानी पर बल दिए आई, उसे देख कर भी नहीं देखा, या गली के मोड़ पर—दस कदम आगे या पीछे—पलटू या कोई और परिचित भी दिख गया, तो लीजिए, बिदेसी के पाँव-तले की धरती खिसक गई, छा गये उसके सर पर जाने कितनी आशंकाओं के बादल, और वह लगा अंदर-ही-अंदर घुलने।

यह न होता कि वह किसी पर खुल कर अपना बुखार उतार देता। बस, सूख कर ऐसा हो गया कि काटो तो खन नहीं। अब क्या वह किसी गाने के रेयाज़ के या

जानी-मुनी-देखी

किसी के दो घड़ी दिलबहलाव के काबिल रहा ! कहे कौन कि अबे पागल, एक तो वह मनमौजी ठहरी, दूसरे—आखिर तो नारी, तेरी तरह आँखों का पानी झाड़ वह सरेबाजार तुम्हे आँखों से निगलती फिरेगी ? आखिर दिल ही तो है ! कुछ सोच रही होगी उस पल । न तू यों आठों पहर सिर होता न यों मुँह की खाता । भला औरत भी हथेली पर दिल लिये फिरती है ? वह तो उस प्रलय को भी दिल के अंदर सँजोए रहती है । काश ! वह दिल चीर दिखा पाती तो उस लौ की लपट के आगे तू ठहर पाता ?

यह खूब ! दरिया की लहर चली है समुंदर की गहराई पर उँगली उठाने ! तेरा पता तो हम-जैसे घड़ी-दो-घड़ी के मुलाकाती भी ढूँढ़ लेते हैं, उसका पता तो उसकी हेली-मेली जमुनी भी नहीं बता पाती । कुछ तेरी तरह छुईमुई तबीयत थोड़े ही है उसकी कि एक झटके से जिन्दगी की तमाम चूल्हे ढीली पड़ गई ! आखिर ऐसी भी पस्ती क्या कि आठों पहर मुँह जोह रहे हैं—मरे जा रहे हैं ।

एकाध दिन तो वह हमारे सामने ही गाने के बीच में एकबारगी एक ऐसी झिझक से ठिठक पड़ा, जैसे गले के अंदर कोई नस फड़क पड़ी हो उसकी । हमने घबरा कर पूछा—“अरे, क्या हुआ बिदेसी ?”

“यों ही जाने क्या !”—और वह भर्साया-सा, लजाया-

नारी क्या—एक पहेली ?

सा लगा अपना गला सहलाने, जैसे कि गर्दन की कोई उभरी हुई रग मसक पड़ी हो। मगर उसके चेहरे पर खुली हुई गुलाली की लहर किसी और पर खुले या न खुले, हमें तो साफ़ कह गई कि हो-न-हो, यह मिसरी के पैरों की आहट है, अंदर से उड़ कर आई हुई उसके गले की आवाज़ है, या सामने की छत की अलगनी से सूखे कपड़े उठाते उसके आँचल का पल्ला होगा जो बैठे-बिठाए इसे यों विचलित कर गया। यों तो बिदेसी कभी टस-से-मस न होने का। और कोई ऐसी उलझन तो होने से रही, जो इसके गाने-बजाने की रौ को यों उखाड़ कर धर दे।

यह तो जब से मिसरी उसके पास आई तभी से वह अपने-आपसे दूर हो गया जैसे। कभी जो कटती हो चैन से उसकी। बस आँखें टँगी रहती हैं—कान खड़े रहते हैं।

हम तो अपने सोचे और चाहे के जीते-जागते नमूने हैं जैसे। जैसा सोचा किये वैसा होकर रहे—जाने-अन-जाने। बिदेसी न आठों पहर मिसरी के लिए सिर धुनता और न यों सिरफिरा रहता।

अब रही मिसरी। तो मिसरी की बातें तो मिसरी ही जाने! किसी और को जानने की गुंजाइश क्या थी, जैसी गुमसुम थी वह। वह तो न मनचली थी, न मन-मरी। उसे कोई ढूँढ़े तो क्या ढूँढ़े? मगर ढूँढ़ने का कोई

जानी-मुनी-देखी

राज भी तो हो ! बिदेसी तो धरती के उस ज़र्रे को चूम लेता जहाँ मिसरी के पाँव पड़ जाते । ऐसा सुहाग पाकर उसे हाय-हाय क्या होती ! वह तो अपने में भरी पड़ी थी । कुछ बिदेसी की तरह पागल थोड़े ही थी कि बेबात की बात पर सिर चीरती !

बिदेसी को तो घड़ी-घड़ी मिसरी के दिल की तलाशी लेनी पड़ती रही, चूँकि वह अपने दिल से मजबूर था । मिसरी की जानिब से तो कोई बात थी नहीं—बीमारी थी उसकी अपनी; और मिसरी तलाशी लेने जाती ही क्यों, जब उसकी चितवन की एक चुहल पर बिदेसी का जीना या मरना था !

जमुनी ज़रा ठीठ-सी थी । उसी से अंदर जब-तब पता चलता कि दूल्हे के इन मचलों से वह अंदर-ही-अंदर खिलती है—ऊब भी जाती है । आखिर घड़ी-घड़ी पलकें बिछाती आँखों से कोई क्या आँखें मिलाए ? ऐसी भू-परी की भी कोई हद है आखिर ? मिसरी तो बराबर डरी रहती है कि कहीं रास्ते में आते-जाते बिदेसी अपनी लगी का कुछ ऐसा इजहार न कर बैठे कि उसे दस के सामने आँखें चुरानी पड़े ।

उस दिन उसके गले में कंठहार न देख वह कुछ ऐसा सुध-बुध खो बैठा कि रास्ते-भर साये की तरह उसके पीछे पड़ गया । मगर यारों की हँसती निगाहों या उठती उँगलियों की परवा उसे चाहे न हो, मिसरी तो दिन-

नारी क्या—एक पहेली ?

दहाड़े भावी दूल्हे की इस बेहयाई से खीझ गई। और, ज्यों बिदेसी पिठियाठोक जमुनी के आँगन में घुस पड़ा कि वह झुल्लाकर फट पड़ी उस पर—“यहाँ क्या ? हमने कुछ उधार खाया है क्या जो यों सर चढ़े आते हो ? छिः !”

बिदेसी चुप। क्या कहे, कैसे कहे ? बस, भराई आँखें लिये मिसरी को एकटक देखता खड़ा रहा। देखा, मिसरी का चेहरा तमतमा रहा है, गुलाब के पटल-से होंठ फड़क रहे हैं, सर से आँचल खिसक कर गर्दन पर आ गया है, सीने पर एक लहर-सी उठ रही है और चितवन की कोर में जैसे बिजलियाँ कौंध रही हैं।

“आया था...पूछने...”—और उसकी निगाह चेहरे से उतरती हुई मिसरी के सूने गले पर जा रुक गई, तो चट वह ताड़ गई कि बिदेसी की इस बेकली की बुनियाद क्या है। गुस्सा काफ़ूर। उठ आई होठों पर मुस्कान की एक नन्ही-सी रेखा। मगर वह उसी तान-तेवर से आँखें नचा अपनी नाक पर उँगली रखती हुई बोली—“ओ हो ! दूँदने आए हो अपना कंठा ?... यह ले जमुनी, सुन, इसे कह भी दे कि उसे तोड़कर छीन ले गया पलटू। गुर्दा हो तो उससे छीन ले। है कलेजा ?”

और बस, लीजिए, बिदेसी की आँखों के सामने से दुनिया पलट गई। आसमान फट पड़ा। सितारे छितरा गए। हाय री जालिम ! क्या बिस्मिल की तड़प ऐसी दिलचस्प है तेरी निगाह में ? मछली के मुँह में तो काँटा

जानी-मुनी-देखी

चुभ ही चुका—उसे किनारे पर खींच क्यों नहीं लेती ? यह घंटों खेला-खेलाकर उसका दम तोड़ने में क्या मज्जा है भला !

वस, एक पल । और, बिदेसी के अंदर जाने कितनी आशंकाएँ एक साथ तड़प उठीं—‘मिसरी ने उसे दे तो नहीं दिया ! मगर वह देने जाएगी ही क्यों, कहीं सोए में चुरा लिया हो उसने ? मगर वह उस बार ऐसा गले से तोड़ ले जाता तो हल्ला न होता ?’

वह लगा थर-थर काँपने—अब गिरा, तब गिरा ।

तभी जमुनी हँसती हुई अपनी कोठरी से निकल आई । अबे पागल, उसे तो कल हमने सुनार को दे दिया है; उसकी कील उखड़ गई थी ।

बिदेसी लगा उसका मुँह जोहने ।

“चल-चल, यहाँ कोई देख लेगा तो जाने क्या-क्या न गढ़ लेगा । दीवार के भी कान होते हैं ।”—और उसने एक तरफ से उसे धक्के देकर बाहर निकाल अंदर से किल्ली लगा दी ।

मगर बिदेसी को अभी तसकीन कहाँ ! यह दोनों जनी मिलकर उसका कलेजा खसोट रही हैं । मिसरी कहती है राम की, तो जमुनी कहती है श्याम की । और, जमुनी ऐसी चौतालिया कि बिदेसी-ऐसे दस को एक हाथ से बेचकर दूसरे हाथ से बाजार में खरीद लेगी ! फिर ? उसके पेट में अब पानी पचे ? हमारे यहाँ आकर भी

नारी क्या—एक पहेली ?

उसने अपनी धड़कन जताई। हमसे तो कहने की हिम्मत न हुई, मगर हमारे भाई साहब तो ऐसी चटपटी चीजों से खास दिलचस्पी रखते हैं। वे लगे रहे पर रहा देने 'हाँ, दाल में काला तो ज़रा दिखता है। आखिर औरत की ज्ञात, इनका क्या भरोसा ? वह माशूक क्या, जिसमें वफ़ा ही रही। मगर ठहर, पलटू ने लिया होगा तो अबकी उसे छठी का दूध न याद करा दूँ तो कहना।'

एकाध हमदर्द और आ गये, लगे चुटकी लेने—
'पलटू तो उसके 'बाप का शागिर्द ठहरा, भाईचारा होगा ही, भाई के घर रख आई होगी।'

दूसरे ने खूँटी और मरोड़ दी—“अजी भाई-वाई कैसा ! कहीं दिल आ गया हो तो ? जैसा जवान है पट्टा ! कौन ठिकाना, वह उधर ही मुड़ गई हो ! हाँ, बिदेसी भी ज़रा जोड़ियाँ फेरे, सुबह-शाम धूल चढ़ाए, किसी से कान तुड़वा ले, तो फिर देखिए, वह कंठा आप उड़कर आ ही जायगा।”

हमने उसे डाँट बताई कि 'पागल कहीं का ! वह तेरी चीज़ किसी और को क्यों देगी ? आखिर वह तेरी ही होकर न अपने गले में रखती है ? पलटू से भाईचारा या कोई दिल का वास्ता होता तो याद कर—उस दिन वह चुप न हो जाती ? कह देती कि जाने कौन चुरा ले गया कंठा। मारे जूतों के उसकी खाल उधेड़वाती हमारे

यहाँ ? मिसरी के सामने ही उसकी जैसी मरम्मत हुई—
भूल गया तू ?’

‘तो फिर यों आँखें पलट देना’... बिदेसी लगा मेरा
मुँह जोहने जैसे ।

‘पलटे नहीं । तू जो सिर है—आठों पहर आँखें
बिछाये फिरता है उसके इर्दगिर्द ।’

तभी एक साहब ताल दे बैठे—‘भला तुम्हारा जाता ही
क्या है ? आँखों में आग भी है, आँसू भी, आज यह
कल वह’—

वह बेरुखी से देखते हैं, देखते तो हैं

मैं शाद हूँ कि हूँ तो किसी की निगाह में ।

मगर बिदेसी को तो जैसे बुखार हो आया । कभी
झुबे, कभी उतराए । रात-भर आँख तो लगी नहीं, भोर
होते ज़रा झपकी-सी आई तो देखा, मिसरी गले में कंठा
डाल सिरहाने खड़ी है ; कह रही है—‘तुम्हें अपनी
मिसरी का भरोसा नहीं है क्या ? वह ज़रा वैसी-सी
है ? छिः !’

भोर का सपना सच होगा ही । उसे एक तसल्ली-सी
आई । और, पौ फटी भी न होगी कि वह चला जमुनी से
दरियाफ्त करने कि उसने कंठा किस सुनार को दिया है
मरम्मत करने को ।

गली के मोड़ पर आकर देखता है कि कुँ पर मिसरी

नारी क्या—एक पहेली ?

झम-झम पानी भर रही है। उसके गले में कंठा लहालोट है और आप-ही-आप गुनगुनाए जा रही है—

मेरा तोरा रे नजरिया से मिलना

.....मेरा तोरा रे.....

अपने सजन की मैं बड़ी रे दुलारी

मँगा ला रे खाईदार कण्ठा

भोर का सन्नाटा। सारा आलम नींद में डूबा। कहीं कोई चिड़िया का पूत नहीं। मीठी मंद बयार। चिड़ियों की चहचह। और, यह हुस्न और यौवन का जलवा ! पेशानी पर शबनम की बूँदें छलक रही हैं। सर के बाल कंधों पर इठला रहे हैं और उतर आया है सर का आँचल गर्दन पर।

बस, बिदेसी भूल गया अपने को—भूल गया दुनिया को। न रही शर्म, न रहा डर। नाच उठा लहू, ठमक पड़ी साँस। आ गया दिल आँखों पर—प्राण कानों पर। और वह देख रहा है—देख रहा है। सुन रहा है—सुन रहा है। और उसका रोआँ-रोआँ मुस्कुरा रहा है जैसे।

मिसरी घड़े भर कर ज्यों मुड़ी कि आँखें चार हो गईं। वह जरा चौंकी, सहमी, झिझकी; इधर-उधर आँखें दौड़ाईं। देखा, कोई नहीं। बस, मुस्कुरा पड़ी।

“ओ हो ! बड़े सबेरे आए तुम ?”

बिदेसी क्या कहे कि क्यों आया ! चुप-का-चुप रह गया।

जानी-मुनी-देखी

“कल रात मैं जमुनी के साथ तुम्हारा वह नया घर देख आई।”

“मेरा घर कैसा ? यों ‘हमारा है’ कहो ! हाँ, कहीं कुछ रद-बदल चाहती हो तो कहो, अभी तो छप्पर भी नहीं चढ़ा है।”

“एक छोटा-सा कोठा भी रहता.....सरकार से कहो न !”

—कि किसी के पैरों की आहट सुन पड़ी। और वह कम-से घड़े उठाकर जमुनी के घर की ओर चल पड़ी।

हाँ, सच। मिसरी बराबर तो दुतल्ले पर रह आई। बाप के घर भी एक छोटा-सा दुतल्ला था उसका। और, बिदेसी ने खड़े-खड़े वहीं तय कर लिया कि चित या पट, जैसे हो, वह उसकी फरमाइश पूरी करके ही दम लेगा।

अब कुछ न पूछिए। बिदेसी तो जाने कहाँ का राज्य पा गया। ऐसा पड़कता हुआ हमारे यहाँ अपनी खुश-नसीबी जताने और दुतल्ले की माँग पेश करने आया कि बस, जी लोटकर रह गया। एक पल में मिसरी उसके दिल की सारी उमस को यों उड़ा ले गई, जैसे बरसाती गर्मी को पुरवैया का लहरा ! कहाँ वह तपिश, कहाँ यह ठंडक ! कल वह क्या था, आज वह क्या है ! कहाँ वह बेकली, कहाँ यह खुशी ! थिरक रही हैं अरमानों की अठखेलियाँ, उमड़ रही हैं उमंगों की ऊर्मियाँ !

और, हम मन ही मन माथा चीरते—बाप रे ! ऐसी

मारी क्या—एक पहेली ?

होती है लगी दिल की ! विचित्र है यह वरदान, विचित्र है यह अभिशाप ! वह न आती तो बिदेसी को ऐसी प्रेरणा न मिलती, और वह न आती तो शायद बिदेसी के रेयाज में ऐसी बाधा भी न होती ! वह क्या गाए, क्या बजाए ! कैसे गाए, कैसे बजाए ! आखिर दिल ही के तले तो गले की लट भी दबी है । वह मुस्कराया तो गला भी जगमगा उठा—और वह न उठा तो गला क्या उठेगा खाक !

“सौ सौ उमोद बँधतो है एक-एक निगाह पर”

मुझको न ऐसे प्यार से देखा करे कोई ।

हमने अन्दर सुना कि आज मिसरी और जमुनी में बिदेसी के कारण एक ऐसी-तैसी की नौबत आ गई जैसे ।

बात तो यों कुछ भी नहीं है— बे-बात की बात कहिए । कहाँ जमुनी ने बिदेसी के मुँह से कोई गाना सुन लिया, जिसे मिसरी अक्सर अपने यहाँ गुनगुनाती रहती है । हमने कहा, हो-न-हो, यह वही गाना होगा जिसे रात तालाब पर हमने भी उसे गाते सुना । बिदेसी उसे लेकर उड़ चला है जैसे ।

मगर इसमें खींचतान का सवाल यों उठ गया कि जमुनी सुनकर मिसरी से पूछ बैठी कि बिदेसी कहाँ पा गया यह गीत ! वह तो हँसकर चुप रही, मगर जमुनी ने फिर हाशिया लगा दिया कि 'घर के आसपास चक्कर देता ही है वह बराबर, बस सुन लिया होगा कभी किसी पल, मगर हाँ री मिसरी ! तू भी उसके मुँह से सुन लेती तो बस देखती कि क्या जादू भर दिया है उसने

नारो क्या—एक पहेली ?

तेरे गीत में ।’ और, उसपर टिप्पणी कर बैठी—‘वाह ! क्या गला पाया है बिदेसी ने !—मिसरी से भी मीठा ! ना ?’

बस यही उक्ति जाने कैसे मिसरी को चोट कर गई । भगवान जाने, उसकी तुलना खुद मिसरी से थी कि मिसरी की डली से । जो भी हो, कुछ मिसरी पर तो चुटकी थी नहीं । मगर उसे जाने कैसे एक ठेस-सी लग गई । एक अजब ताने से जवाब दे बैठी—“दुत् ! मीठा गला लेकर तो जाने क्या पा गया वह । मर्द का गला मीठा रहा तो, तीता रहा तो । राम रहे चार भाई, पाण्डव थे पाँच—कभी सुना है किसी के गले का बखान ?”

जमुनी हँसकर बोली—“तो तू चाहती है कि वह भी राम की तरह भरी महफिल में धनुष तोड़े, तब तुझे पाएगा ! अच्छा, आज मैं बिदेसी से कहे देती हूँ कि ले भाई, अब तीर-धनुष उठा—मिसरी तेरे गाने पर नहीं जाती ! वह बल ढूँढ़ती है, रस नहीं ! मगर क्या करे बेचारा ? दिन-रात तो तुझपर जैसे मर रहा है !”

“मरने के लिए भी तो जान चाहिये, जीजी ! है भी कोई जान उसमें ?”

“यह लो ! तो यह बे-जान है क्या ?”

“जान तो उसकी बसती है गाने में !”

“अच्छा, ले, वह गाना भी छोड़ ही देगा—जैसे तू खुश रह !”

“मैंने यह कब कहा ? लगी तुम आग लगाने !”

“तो आखिर तेरा इशारा क्या है ?”

“यही कि—कौन कहें कि मर्द को यह बड़ा सोभता है !”

“और तुम्हें ?”

“मैं क्या मर्द हूँ कि गाने में लाज है ?”

“अरे भाई, लाज कैसी ? यह तो भगवान की देन है !”

“अब कहो कि मर्द गाए, नाचे, चोटी काढ़े····”

“अच्छा, ले, चल, हम बिदेसी से कही दें कि····”

“ना-ना, मालिक सुनेंगे तो····। अरे, एक बात आ गई, कह दी । और, तुम बस इसे ले उठी !”—और वह जमुनी के पैरों से लिपट गई ।

मगर मालिक ने तो सुन ही लिया और समझ भी लिया कि नारी में कम या बेश, और जो भी वृत्ति हो, ईर्ष्या तो कूट-कूट कर भरी है उसमें । वह बिदेसी का सब कुछ सह लेगी, गले का ताव नहीं सह पाती । खिँच कर आती भी है उस पर और शायद खिँच भी जाती है उसी को लेकर । रही है एक म्यान में दो तलवार कहीं ? तो क्या वह समझती है कि आज बिदेसी न होता तो एकच्छत्र राज्य होता उसका यहाँ ? हाय री पगली ! इतनी भी तुम्हें समझ नहीं कि वैसे वायुमण्डल में भवन से निकल कर भुवन में तो तू आने से रही, फिर तेरा राज्य

नारी क्या—एक पहेली ?

तो अन्दर ही रहता न ! वहाँ तो आज भी ज्यों-का-त्यों है । माना कि बिदेसी के गले की शुहरत उड़-उड़ कर उसे डगमगा आती हो, मगर कभी गई है—किसी हीले भी—तुमसे होड़ लेने वह ?

आज तक मिसरी के गले से तुलना का सवाल कभी उठा न था । मिसरी भी जाने-अनजाने बिदेसी के गाने पर रीझती ही चली आई । आज शायद यह पहला ही गीत था, जिसे दोनों ने गाया हो—वह भी अलग-अलग—और किसने उसे कैसे अदा किया, यह राज भी जमुनी ही तक खुला था । मगर जाने कैसे मिसरी की नाक में तुलना की एक गंध आ गई और लीजिए, मर्द के लिए गाना ही हराम हो गया !

खैरियत यह रही कि अब तक बिदेसी और मिसरी की दुनिया, गाने के लिहाज से, एक दूसरे से मीलों दूर थी—एक अन्दर, एक बाहर—बीच में अलंघ्य दीवार । कोई ऐसा मौक़ा न था कि दोनों अपना-अपना कमाल आमने-सामने पेश करें । कहीं ऐसा होता तो जाने कैसा क्या हो गया होता अब तक ! मिसरी की म्यान से तो तलवार कभी खिंच गई होती !

भगवान न करे कि पति और पत्नी दोनों एक ही कला के शिल्पी हों । साहित्य रहा तो मुश्किल, संगीत रहा तो मुश्किल । अगर दोनों ही कलाकार निकले, तो रह गई सारी विभूतियाँ गहराई में पछाड़ खाती और

जानी-सुनी-देखो

चल पड़ीं अन्दर-ही-अन्दर एक चुनौती और चुनाचुनी की छुरियाँ। वह पति के लिए जान देगी, मान न देगी। कोई भी अपना ऐसा प्यारा नहीं, जिसे हम अपनी पूजा के अर्घ्य में भाग दें। कोई भी ऐसा प्रिय नहीं, जिसकी नाक रखने के लिए हम अपनी नाक कटने दें।

रूप और शृंगार तो नारी की अपनी चीज है ही, खन-कूट कर दिल की दुनिया भी है उसकी; मगर कहीं मानसिक वृत्तियों के क्षेत्र में औरत-मर्द उतर आए अपना-अपना करश्मा दिखाने—वह भी जोड़-तोड़ की प्रतिभा लेकर—तो फिर आन्तरिकता की डाल पर दोनों का एक सुखमय नीड़ बाँधना आसान न होगा। सुहाग की सेज अंगार की सेज चाहे न हो, पर जुड़ी छातियों के अन्तराल में हृदय का अँकवार-गहन तो होने से रहा।

शायद गले की धुन भी नारी की अपनी दुनिया है, मर्द उसे छू नहीं पाता। काश ! हजार में एक किसी को भगवान की यह देन मयस्सर भी हो सकी, तो वह शर्बत का घूँट नारी को तो विष का घूँट बनकर लगेगा ही। आँखों से आँखें मिला कर कोई दिल चाहें मिला ले; पर गले से गले मिल कर दिल आना खेल नहीं। जायदाद लेकर बाप और बेटे में, पति और पत्नी में दीवार खड़ी हो जाती है; कलम लेकर या तूलिका लेकर दीवार क्या—तलवार भी तन जाय तो कोई अचरज नहीं।

नारी क्या—एक पहेली ?

हम मानने को तैयार नहीं कि मिसरी एक पल के लिए भी यह सोचती है कि आखिर बिदेसी में है ही क्या जो किसी के दिल को छू सके। किसी उबाल पर वह चाहे जो उगल दे, मगर ठंडे दिल से वह तसलीम नहीं कर सकती कि बिदेसी में जब रूप है ही नहीं और मर्द के गले का कोई मोल ही नहीं, तो चलो, फिर कोई क्या दिल लगाए उससे ! उसमें तो अपना रूप का निखार भी है, गले की मिठास भी, बिदेसी तो उस पर मरेगा ही। मगर वह किस लिए मरने जाएगी उस पर ? लोग तो कहते हैं कि वह न होती तो बिदेसी आज का विजयी बिदेसी न होता। पर कहे तो कोई माई का लाल सीने पर हाथ रखकर कि बिदेसी न होता तो आज मिसरी भी मिसरी-सी मीठी न होती। तो फिर ? वह बिदेसी की कला की प्रेरणा है तो इससे उसका क्या ?

मगर यह बाल की खाल तो हमारी यह मनमानी लेखनी खींच रही है, मिसरी नहीं। वह कुछ ऐसी दुध-मुँही बच्ची नहीं कि इतनी भी सुध-बुध न रखती हो कि बिदेसी-ऐसा गुनी कहीं मिले या न मिले, बिदेसी-ऐसा प्रेमी तो आसमान के तले एक न्यामत है—अचरज है। बिदेसी का गला बिदेसी ही के लिए है—भला या बुरा—या दुनिया के लिए है—जैसा भी हो वह, मिसरी के लिए अर्पित तो उसके दिल की दौलत है।

मिसरी नारी होकर उस अनमोल का मोल आँक नहीं पाती। ऐसे वरदान को अभिशाप मान वह मुँह मोड़ लेगी—ऐसी न वह अंधी है, न दिलजली।

और बिदेसी-जैसा गुनी भी कहाँ मिलने को है। वह वैसा सस्ता सौदा नहीं आज के ब्याह के बाज़ार में। हो न हो, वह पाल रही होगी क्या-क्या न सपने बिदेसी को लेकर। आखिर यही तो सपनों के उठान का सिन है। जवानी को तो सींचकर हरी रखते हैं सलोने सपने। सपनों का शृंगार ही न रहा तो फिर जवानी का जलूस क्या। जीवन की जान प्यार है, तो यौवन की जान स्वप्न। और उसे दोनों ही मयस्सर है भरपूर।

मुँह से बात निकलने की देर है, उसके फैल जाने में देर नहीं। बिदेसी ने भी जाने कैसे सुन ही ली। खैरियत इतनी ही रही कि उसने अथ से इति तक नहीं सुनी, नहीं तो जीने-मरने की एक समस्या खड़ी हो जाती उसके सामने।

अगर बिदेसी का हृदय मिसरी में बसता रहा, तो उसकी जान बसती थी गान में। कहीं जान और दिल में कोई खींचतान होती तो क्या होता—ऐसी हवाई तीरं-दाजी में हम नहीं जाते। उसकी कला केवल एक लगन होती तो लगी के हाथ बाज़ी आएगी ही। कहाँ लगन, कहाँ लगी। कहाँ शौक की सरगर्मी, कहाँ दिल की बाज़ी।

नारी क्या—एक पहेली ?

आखिर वासना के आगे व्यसन का जोर ही कितना !

कहना मुश्किल है, किस करवट ऊँट बैठता । फिर भी हमें तो लगता है कि जान जाती तो जाती, मिसरी को वह जाने न देता । आखिर 'जान ले लेती है लगी दिल की !'

बिदेसी के कान में बस इतनी ही भनक पड़ी कि उस दिन कुएँ पर उसने मिसरी की गुनगुनाहट जो कुछ सुन ली थी, उसे इधर-उधर दुहरा कर उसने मिसरी का मान नहीं रखा । कैसे नहीं रखा—जाने दीजिए—बिदेसी को होश भी रहा कि वह इसकी रीढ़ ढूँढ़े । उसकी तो सारी फुर्ती कूच कर गई एक पल में । और छा गया चेहरे पर एक धुंध का गुबार ।

आखिर हफ्तों के इस मानसिक घात-प्रतिघात का असर उसके शरीर पर टूटकर आया । चिन्ता की चपेटों के आगे शरीर की सत्ता ने माथा टेक दिया । कहाँ उमंगों की मौज पर उड़ता रहा, कहाँ आसमान फट पड़ा सर पर । एकबारगी बुखार चढ़ आया और वह पड़ गया खाट पर बेसुध ।

अब कौन उसे देखे-सुने ? दवा करने तो डाक्टर आए, सेवा करने कौन आए ? यों तो अपने लिए सब अपने ही थे वहाँ, उसके लिए वहाँ कौन अपना था उसका ? एक मिसरी थी बस । थी वह ? न सही समाज की मर्जी, दिल की अर्जी क्या थी ?

कैसे आए बेचारी ? दुनिया जो आने दे ! दिल तो जाने के लिए मचल-मचल कर बैठ जाता है ।

मगर वह एक मोंक से उठ ही पड़ी । वह गई—सोच कर गई या खिंच कर गई—गई तो ? जब जमुनी ने आकर कहा कि 'होश में तो वह तुम्हें ढूँढ़ता ही है, बेहोशी में भी मिसरी ही है उसके दिल में—रह-रह कर पुकार भी उठता है जाने क्या-क्या ; अरे क्या-क्या क्या, पुकार तो उसकी एक है—मिसरी ।' तब वह इस पुकार को कैसे अनसुनी कर दे ? बला से विचार नहीं सुनता, दिल ने तो सुन लिया । आखिर दिल ही तो है, मचल पड़ा होगा उसके अन्दर ।

वह धड़ल्ले से जाकर उसके सिरहाने बैठ गई और बैठी रही रात और दिन । न चली लाज की, न लगी मान की; देखा ? ऐसी होती है लगी दिल की ! यों उँगली उठानेवाले कहाँ नहीं हैं ? मगर बिदेसी की ऐसी दशा में किसी की उँगली उठ न पाई, उठती भी तो मिसरी को छू नहीं पाती । शायद वह नहीं गई होती, तभी उँगली उठती ।

आज बिदेसी को होश रहता तो वह अन्दर-ही-अन्दर ज्वर को सर गेरता कि 'भाई, मेरे शरीर में टिका रह—खाता रह गोشت, पीता रह लहू; पर टिका रह—न मिलेगा मुझे कोई ऐसा मेज़मान; मैं नहीं चाहता अच्छा होना; वह अच्छा होना मेरा मरना होगा; तू न आया,

नारी क्या—एक पहेली ?

मेरा भाग्य आया ! कौन है—तुम्ह से बढ़ कर हमदर्द
आज ? हुआ है रोग भी कभी ऐसा अपना किसी का—
हुआ है ज्वर भी कभी ऐसा सुहृद किसी का ? वह ज्वर
नहीं, मेरी नियति-नदी में ज्वार था । हाय राम ! वह मौज
का दरिया उतर गया क्या ?

मगर जब वही आ गई तो फिर बिदेसी के सर पर
बुखार कैसे टिकता । बुखार तो वह थी, बुखार की दवा
भी वह थी ! अब और दूसरा बिदेसी का रोग क्या था—
आपदा क्या थी ? उसका आना था कि रोग उड़ गया—
आपदा कट गई ।

तीसरे दिन आँखें खुल गईं । देखा, सिरहाने मिसरी
बैठी है—आँखों पर करुणा लिये—होठों पर मधुरिमा !
और बस, ऐसा दिल उमड़ा कि कहाँ रहा दर्द—कहाँ रहा
ज्वर !

उधर रोग गया, इधर मिसरी का साया भी उठ
गया । वह रह गया ज्वर के पैरों पर माथा टेक ! बस
मिसरी उठकर जमुनी के घर चल दी । अब टिकती तो
टिटकारियाँ पाती । कर चुकी वह अपना काम । कर्तव्य
हो या हृदय, या दोनों का मेल, जो हो, किया तो ।

यों बिदेसी मरने के लिए जी गया ! और बस, चल
पड़ा फिर वही मरने-जीने का चक्कर ! वह उठ कर पूरा
खड़ा भी न हो पाया था कि साँझ-सबेरे फिर उसी कुँए पर
जाकर बैठने लगा । कान लगे किसी की आहट लेने, आँखें

लगीं किसी की झलक ढूँढने । वह तीन दिन—तीन रात लगातार उसके सिरहाने जा कर बैठ आई है, पल-भर तो वह कुँएँ पर आकर बैठ सकती ।

मगर बैठना तो दूर, मिसरी भाँकने भी नहीं गई उधर । जाती भी तब, जब बिदेसी वहाँ न होता ।

एकाध दिन तो, खैर, उसे परवा न हुई । काफी बड़ा 'डोज़' पा चुका था वह । उसकी खुमारी अभी आँखों में मौजूद थी । और, मिसरी के पड़ोस के साएँ में एकाध घड़ी बैठ ही जाना काफ़ी हो जाता उसकी तसल्ली के लिए ।

मगर जब कुँएँ पर सुबह-शाम बैठते दो-चार दिन होने को आए—मगर न आँख की मुराद बर आई, न कान की—तो वह हाथ-पैर मार, कन्नी कटाकर सरकती हुई जमुनी के सिर होकर, पूछ ही बैठा कि 'हाँ री जमुनी ! अब मिसरी इधर नहीं आती क्या ?'

वह झुँझलाकर बोली—“हम क्या जानें कहाँ मर रही है वह ?”

“हैं ! तो वह यहाँ नहीं है क्या ? कहाँ गई फिर ? बाप के घर ? वहाँ क्यों जाने लगी ? है ही कौन वहाँ अपना । हो-न-हो, महल में होगी । कहीं बीमार तो नहीं है—जैसी पसीना लहूँ एक कर खटी है बेचारी ! है भी तो बड़ी सुकवार ।”

और, बिदेसी जाने क्या-क्या आशंकाएँ बाँधे, छड़ी टेकता, हमारे यहाँ पहुँचा । यहाँ आकर उसे पता

नारी क्या—एक पहेली ?

चला कि मिसरी तो जैसे बराबर आती-जाती रही है वैसे आज भी आई है। और, अन्दर की ड्योढ़ी में सरकती हुई उसकी एक झलक भी मिल गई।

बस जान में जान आ गई। मगर वह आकुलता तो बनी-की-बनी रह गई और भाई साहब की पैनी निगाहें बात-की-बात में उसे भाँप गईं। देखा, फिर उसके सर पर वही चक्कर सवार हुआ जाता है। अबकी टूटकर गिरा तो फिर कमर टूट जायगी। अब क्या मिसरी हर बार जायगी मसीहाई करने ? और बस, कसकर एक फटकार बताई कि 'ले, कान पकड़ जो फिर तू गया जमुनी की गली ! तू क्या समझता है कि वह लाज-शर्म पी तुझसे आँखें लड़ाती फिरेगी ? अब न जाएगी वह तेरा पाँव धो-धोकर पीने ! अब की तू गिरा कि छोड़ देगी मरने को। सोच लेगी कि बुलाने का हीला है यह। और तेरा वहाँ काम ही क्या है जो उधर चक्कर देता है बराबर ?'

बिदेसी लगा उनसे कहने कि साँझ-सबेरे ज़रा वह कुँएँ पर जाकर बैठ आता है—घर में पड़े-पड़े रह-रहकर जी ऊब जाता है।

‘अच्छा, तो यहाँ तालाब पर आकर बैठ। और, यह गिरह दे रख कि औरत दिल ढूँढ़ती है जरूर, पर ऐसी हाय-हाय नहीं। तुझे अपने प्यार पर भरोसा नहीं है क्या ?’

और वे समझा गए कि ‘यह हमारा भाव है जो

पत्थर को भी देवता बनाकर धर देता है—यह हमारा प्यार है जिसे हम जिस चोले में डाल दें वहीं वह दिलदार बनकर हमारा दिल थाम लेता है। यह मजनूँ की आँख थी जिसने लैला को वह रूप दे दिया कि उसकी सारी कालिमा सुषमा में पलट गई। हमारे दिल में दर्द होगा तो मिसरी क्या, भगवान भी खिंचकर चले आएँगे—जैसे दुनिया चली आती है तेरे गले पर !’

‘खुशामद तो बस एक चटनी है जिसे कोई औरत लज्जत के लिए भले ही चाट ले, पर वह होंठ गड़ाकर पीती है किसी के पौरुष का रस। और, तुझमें तो भगवान की देन वह जोर है कि भई वाह ! यह गले की फितरत कोई खेल नहीं। है किसी के गले में यह करश्मा कि एक तान में हजारों का दिल थाम ले ? यह मिसरी क्या, उर्वशी भी आसमान से उतर आए चुटकियों पर। मगर अफ़सोस, तुझे अपनी शक्ति का आप पता नहीं। भूल गया वह मन्दिर वाली घटना जब क्या-से-क्या हो गया तू ? बस, आठों पहर जी लगाकर रेयाज़ कर लेता तो तू आप देख लेता कि क्या कर लेगा तू।’

और, बिदेसी ने सब सुना, सब समझा ; मगर उसका दिल समझे तब न ! अब उसे समझाए कौन, उसे समझ पाए कौन ?

इश्क़ से लोग मना करते हैं

जैसे कुछ अख्तियार है अपना

भाई साहब की बातें कहाँ तक लगीं, पता नहीं। वह पखवारा-का-पखवारा तो ऐसे मजे में निभ गया कि हज़रत लगे ताब लेने कि लीजिए—कुफ़ू दूटा खुदा-खुदा करके।' विदेसी ने तो वह गाया, वह बजाया—क्या ध्रुपद, क्या खयाल, क्या उस्तादी, क्या देहाती—कि महफ़िल लोट कर रह गई ! सुबह से शाम और शाम से सुबह—बस एक धुन, एक लगन।

मगर लगी के आगे किसी लगन की हस्ती ही कितनी ! रही, रही, न रही। इसे लेकर हम जीते हैं—उसे लेकर हम जीते भी हैं, मरते भी हैं।

सूरज अब डूबा, तब डूबा। आसमान की गुलाबी बादलों से छन रही है। फिर-फिर हवा चल रही है—मीठी भी, भीनी भी। जाने कहाँ से एकाध गुनी आए हैं विदेसी को सुनने। कौन है यह देहाती, जो अपने स्वर में संगीत लेकर आया है इस धरती पर ! एक कुतूहल भी है,

एक व्यंग्य भी उस्ताद मेहमानों के चेहरे पर। उनके सामने किसीका गला खोलना खेल नहीं।

मगर यहाँ तो आज न वह राम हैं, न वह अयोध्या। विदेसी का रंग ही कुछ और है। जाने कैसे सुन लिया है कि मिसरी चंद सहेलियों के साथ बनी-ठनी थाल-भरे गुलगुले लिए गाती-बजाती भवानी के मंदिर में गई है। कोई परब-त्योहार नहीं, फिर वह इस सजधज से गई क्या है? किसी का चढ़ावा लेकर तो नहीं गई है? जमुनी के यहाँ कोई बात होती तो उसे बुलावा नहीं आता? और कौन है उसका ऐसा अपना कि वह चलेगी यों रुमभूम कर? सरकारी ड्योढ़ी से यह कारवाँ जाता तो उसे पता न होता?

अब वह काहे को गाने की महफिल में बैठे? कोई बाँधकर बिठाए भी तो पाएगा क्या—मोती नहीं, सीपी! जब दिल ही न खुला, तो फिर गला खुला तो, न खुला तो। भाईसाहब ने उसकी यह कसमसाती चेष्टा देखी तो वह ज़रा ताव में आ गए।

“अबे! चला कहाँ तू?”

कौन सुनता है! उसने अपना रास्ता देखा। मेहमानों को एक ठेस-सी लगी। उनकी दलील थी कि हमने डोरी ढीली रखी है, नहीं तो उसकी क्या मजाल कि वह यों उठकर चल दे! हम किसी से क्या कहते कि क्यों? बोले—“क्या किया जाय? प्रतिभावाने कुछ ऐसे सिरफिरे

नारो क्या—एक पहेली ?

होते ही हैं। हम उनका नाज न उठाएँ तो पाएँ क्या ? और उसके साथ तो सावन का समाँ बारहमासी है—पल में उमस, पल में बारिश।”

बिदेसी दौड़ गया जमुनी के घर। सुना कि वह भी साथ गई है। बस, आव देखा न ताब, धड़फड़ पहुँचा मन्दिर।

चौखट पर आकर ठमक पड़ा। फाँककर देखा कि जाने कितनी आई हैं हेली-मेली।

तभी मिसरी के गले का लहरा मंदिर के प्रांगण में गूँजता हुआ, मंदिर की दीवारों को कँपाता, उसकी कानों में क्या, उसके प्राणों में उतर आया। एक नशा-सा छा गया उस पर। वही चिरपरिचित देवी की वंदना, वही गला, वही लोच, वही निखार। बिदेसी बह चला इस सुर की हिलोर पर—उबचुब। कौन कहे, कहीं डूब गया हो एक मधुमय अतीत के रस-स्रोत में।

जमुनी जाने क्या तलाशती बाहर आई। बिदेशी पर नज़र पड़ी तो एक बारगी जैसे उछल पड़ी—“ले, अरे, बिदेसी भी तोयहीं है.....कैसे भूल पड़ा तू यहाँ ? तुझे प्रसाद देने ढूँढ़ना पड़ता। अच्छा हुआ, आ ही गया !”

“आज क्या है कि प्रसाद देने आती तू ?”

“तेरी मन्नत है न, पागल !”

“मन्नत !—यह मन्नत कैसी ?”

“भला सुनो, तेरी बीमारी की, और कैसी ? मिसरी

को और कौन है जिसके लिए वह गुलगुले लाएगी ? तुम्हें होश भी था कि कब क्या हुआ ? हमने हाथ जोड़ा था कि देवी मैया, बिदेसी जी उठा तो मिसरी गुलगुले चढ़ाएगी । बेचारी बे-स्वाए-पिए कल ही से लगी रही ।”

ऐसी अनहोनी ! क्या मिसरी रात ही से भूखी रही है इस नाचीज़ के लिए ? यह गुलगुले-चुनरी लाई है बिदेसी के लिए ? ऐसी निष्ठा, ऐसी सेवा, ऐसी ममता ? भगवन् ! वह क्या देकर इस दान का प्रतिदान देगा !

और बिदेसी के सर पर एक नशा-सा छा गया । उसे लगा कि आकाश से विमान लेकर देवता आए हैं उसे अमरावती की सैर कराने । ज़मीन का ज़र्रा-ज़र्रा नाच उठा है उसके चरणों की रज चूमने । उसका रोम-रोम सिहर उठा ।

जमुनी उसे खींचती हुई मंदिर के प्रांगण तक ले आई—“चल-चल, मैया की आरती तो लिये जा !”

आते-आते वह मिल गया मिसरी की सहेलियों से । मंदिर के अन्दर मिसरी रह गई अकेली गाती-बजाती । एक ने कहा—“क्या अच्छा होता कि बिदेसी भी साथ गाता-ना ? ...ऐसी घड़ी कहाँ मिलेगी ? ...अरी मिसरी, इधर देख ! पहचानती है, कौन है यहाँ ? मैया की मरजी, खिंच आया । ले, अब दोनों जन मिल ज़रा गाओ—बजाओ एक साथ । भगवान ही ने तो जोड़ा लगा दिया है जैसे मक्खन और मिसरी ।”

नारी क्या—एक पहेली ?

मगर मिसरी—तो जैसे भरी पड़ी है कि ये बिदेसी के क़दम क्या आए—उसकी सहेलियाँ गाने के बीच ही उसे छोड़ एक-एक कर बाहर चली आईं । बेचारी गा भी न पाई, ऐसा सर पर आसमान उठा लिया सबने बिदेसी को लेकर । एक अजब मिम्क से बोली—“तो अब कहो कि साथ नाचो भी !”

“तो हुआ क्या है ? यहाँ कोई बाहर का थोड़े ही है जो तू मुँह ढाँप लेगी ? दो दिन बाद तो उसके साथ जाने क्या क्या न करेगी । आज हमारी बात मान एक लपेट गा-नाच ही लेगी तो बिगड़ेगा क्या ?”

“तो ले, यह क्या है चुनरी ; वह पहन कर नाचे—गाए, तुम्हारी छाती जुड़ाए । हम से यह खेल न होगा ।”

और मिसरी एक झटके से सब की बिनती अनसुनी कर थाल में प्रसाद रख चलने की तैयारी में लगी है ।

“ना भाई, तू बड़ी वह है । ..ले बिदेसी, यह तो सुनती नहीं । तू ही आज मैया को दो-चार गाने सुना, बड़े भाग से तुम्हें पाया है आज यहाँ ।... अरे, चली कहाँ ! प्रसाद भी तो बिदेसी को दिए जा !”

यह साथ गाने की फ़रमाइश जैसे किसी काने के सामने आइना दिखाना होता तो यह मिम्क अपनी जगह पर होती । मगर मिसर के मिजाज का रुख तो

भगवान् ही समझें तो समझें, आदमी की समझ के तो परे की बात है ।

मिसरी झपाक-से लौट पड़ी । रख दिया गुलगुले का थाल जमुनी के सामने ।

“ले अरे, गाता क्यों नहीं ?”—जमुनी ने बिदेसी को खोदकर कहा ।

मगर यहाँ तो बिदेसी की सारी फुर्ती काफ़ूर हो चुकी थी । उसके तो होश पैतरे खा रहे थे । ‘भइ गति साँप-छूँदर केरी’ !

“अरे हम भी चल रही हैं भाई ! एक गाना तो सुनती चल !”

“तुम्हीं सुनो । हमें कोई और काम नहीं है क्या ?”—और मिसरी झमकती हुई दरवाजे तक जा पड़ी ।

जा पगली ! इतना भी न हुआ तुमसे कि जाते-जाते एक उड़ती-सी नज़र भी बिदेसी पर रख दे ! रह गया वह लड़खड़ाकर !

बाप रे ! यह चोन्हा ! आज यह तेरा न हुआ रहता तो यह जोम टिकता ? सुन पाती कि बिदेसी गा रहा है तो नदी-नाला लाँघ दौड़ आती कोसों से । बेचारा ‘घर की मुर्गी दाल बराबर’ हुआ । क्या गाए, क्या बजाए, क्या प्रसाद ले, क्या देवी के चरणों पर सर रखे । उसके तो देवता कूच कर गए सर से ।

नारी क्या—एक पहेली ?

उसने तो मन्दिर के प्राङ्गण में पैर रखा था कि आज वह मिसरी की चेष्टाओं में जाने क्या-क्या न देखेगा, मगर हाय रे करम ! उसने धरती को फटते और अपने को उसमें समाते । देखा साँस रुक गई, आँखें भिप चलीं । उसने खड़े-खड़े दीवार थाम ली ।

हम पूछते हैं, कौन है वह, जो गाते-बजाते आई इस मंदिर में मन्त्रत उतारने और कौन है यह, जो यों बिदेसी पर जी का बुखार उतार अपनी पेशानियों पर कमानियां ताने लौटी जा रही है एक पल में ? दोनों ही तो सामने आईं । उनमें कौन है मिसरी, कौन नहीं है मिसरी ? कौन है असली और कौन नहीं है असली ? अगर यह भी है मिसरी और वह भी है मिसरी, तो हाय री नियति की चुटकी ! मिसरी और ऐसी तीती ! अपनी और ऐसी तीखी !

क्या बात है कि जिसके लिए इतना सह रही है कल रात ही से, उसका साथ नहीं सह पा रही है यहाँ । यह कैसे कहें कि उसका गला नहीं सह पाती है वह ! उसका वह गला न होता तो बिदेसी को मिसरी ही पूछती—दुनिया तो दर-किनार रहे ! और गला ही क्यों, कला भी तो है अनूठी ! न सही और कुछ-डीलडौल, न वैसा कोई रूप-रंग । बस, बेंत-सी लपलपदेह, दो डूबी-सी आँखें ।

तो फिर ? यह क्या विडम्बना है आखिर ! ओ विश्व के सर्वज्ञ नियंता ! तुम्हें मिली है नारी-हृदय के इस

जानी-सुनी-देखी

रहस्य की टोह ?—यह आगम, अगोचर, अचिंत्य ! ऐसा भी ! वैसा भी ! छोह भी, द्रोह भी ! प्यार भी, फिटकार भी जैसे वह हृदय क्या है, दो-धारी तलवार है । भगवन् ! तो क्या राग और विराग एक हो वृत्ति की दो लड़ियाँ हैं—एक ही तने की दो टहनियाँ ?

हायरे बिदेसी । पल में राजा, पल में रंक ! पल में कैलास, पल में पाताल ! तू अभी उमड़ कर उठा था कि उसकी ऐसी सेवा के बदले उसे क्या दें ! जान भी दे देता खुशी से तू—ऐसा उछाह था तुझ पर ! अब कह तो सही, इस उपेक्षा के बदले तू क्या देगा ? दे सकेगा नहले पर दहला ? अरे भाई, तू न धधाकर आसमान पर चढ़ता, न यों फिस-फिसा कर ज़मीन पर आता ! अब तक तो मंदिर से लौटकर वह खुद गई होती तुझे ढूँढ़कर प्रसाद देने । बग़ैर तुझे खिलाए तो वह एक चना भी अपने मुँह में नहीं डालती । ले, बस रो कर क्या होगा ? मिसरी तो तेरी रहेगी ही—न सही मिसरी में पगी ।

हमने देख लिया कि जैसा चिकना घड़ा है यह, इस पर कोई असर नहीं। और यहाँ रह कर कभी राह पर आने का नहीं। किसी तरह आ भी जाता है तो ठहर नहीं पाता। वह जो किसी ने कहा है न कि 'केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा निबद्धोऽस्मि तथा करोमि'—बस, वही रवैया है ! रीझ के आगे बूम रह जाती है लड़खड़ा कर। उसकी अपनी हौल-दिली बैठे-बिठाए फिर कुछ क्लिप्सा कर देगी, और कहीं अबकी बार मिसरी किसी तेवर पर उबल पड़ी कि 'मर्द को भला ऐसा गाना-बजाना सोभता है कभी !' तो वह जैसे-तैसे जो कुछ भी कर रहा है आज, उसे भी न कर पाएगा आगे। वस, उसे कहीं दूर 'पैक' करो कि न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी! अगर जाने से इनकार करे तो छेड़ कर होशियार ही कर दो किसी हीले से। उसे पता नहीं कि उसके सर पर कैसे बादल छाए हैं। आज न रस की फुहार है, कल पत्थर बरस पड़े तो फिर ?

और हम छेड़ ही तो बैठे—“हाँ बिदेसी, हम तो चाहते हैं कि तुम्हें काशी भेज दें। यहाँ रह कर तो तुम कुछ वैसे हो न सकोगे।”

“सो कैसे मालिक ? यहाँ भी तो कितने गुनी हैं ! कहीं दूर का ढोल सुहावन.....”

“मगर तुम जो नहीं हो अप ने ! महीने पर महीने निकलते गए, कभी तो जमकर रेयाज्र किया होता कंबख्त ! यह मिसरी क्या आई, तुम्हारी शामत आई। ऐसा महँगा सौदा ! कहाँ हम स्वप्न देखते रहे कि यह तुम्हारे सर पर रहमत बन कर आई है, तुम्हारे उछाह को दून पर रखेगी। वह दाद दिए चलती तो माना कि तुम्हारा विकास सुगम होता। मगर वह तो शायद एक पहेली है—पहेली ! वही हम सोचते हैं कि तुम्हें इस खींचतान से कहीं दूर बाहर भेज दें।”

“उससे भी पूछ लें कि क्या कहती है वह।”

“यह लो ! और वह कहीं कह बैठी कि ‘जाने दो, क्या होगा गाना-बजाना लेकर !’—तो तुम मान लोगे ?”

“भला, ऐसा क्यों कहेगी ? वह तो खुद गाने बजाने की रसिया ठहरी !”

जी तो चाहा कि जभी तो कहेगी वह—एक म्यान में दो तलवार नहीं होती। मगर ऐसे धड़ल्ले से यह कहना कभी खतरे से खाली न था, ज़ब्त कर गए हम।

नारी क्या—एक पहेली ?

“मान लो कि वह कह ही बैठे कि ‘मर्द को क्या गाना-नाचना सोभता है’, तो फिर ?”

“वाह ! एक हमीं हैं ऐसे मर्द ? जाने कितने हैं । संगीत और नृत्य तो एक फन है मालिक ! शास्त्र में भी बड़ा महत्त्व है इनका ।”

“सो तो है । मगर तुम्हीं एक मर्द हो कि औरत का रख देख अपनी नाव पर पाल बदल दोगे—वह भँवर में ले जाय या मझधार में !”

“फिर तो जान ही ले लेगी न ? ऐसे तो हम से कभी गाना छूटने को नहीं । कहीं ऐसा.....”

और बिदेसी कुछ सहमा-सा लगा एकटक हमारा मुँह जोहने—बात का हीर हूँढ़ने । हमने कहा—“अरे भाई, उसे कस कर दो चपत दे देना कि ‘हरामज्जादी, आई है रोब गाँठने ! हम तुम्हे छोड़ दें तो छोड़ दें, मगर गाना ? हम चाहें भी छोड़ना, तो न छोड़ पाएँगे कभी !’ और फिर देख लेना—न गाना छूटेगा, न वह छूटेगी ।”

“भला, ऐसे कैसे कहेंगे हम ? वही न रही तो फिर.....”

“तभी तो वह तुम्हारी रहेगी । यों तो वह तुम्हारी होने से रही—समझे ?”

बिदेसी लगा कसमस करने । उसके चेहरे पर एक घबराहट-सी छा गई । एक दबी आवाज़ में बोला—“तो क्या वह कुछ ऐसा सोच रही है क्या ?”

जानी-मुनी-देखो

“देखा ? फिर वही ? अजी यह बात नहीं । कुछ करने नहीं जा रही है वह । हमने तुम्हें एक मंत्र बता दिया कि औरत प्यार से ज्यादा मार से सर होती है । कहीं निछक्का प्यार ही प्यार रहा, तो वह सांझ-सबेरे तुम्हें कान धर कर उठाएगी-बैठाएगी । और तुम कहीं के न रहोगे फिर ।”

बिदेसी दो पल अपने ही में उलझा रहा । फिर सर झुकाए बोला—‘क्या बताऊँ मालिक, यह दिल जो बड़ा वैसा है—आदमी सब से लड़ लेता है ताल ठोक—पर अपने आप से भिड़ नहीं पाता ।’

“दुत पगले, वह अपने आप ही से न भिड़ा तो फिर दुनिया से क्या भिड़ पायेगा—खाक ! मुना है न, वह मर्द ही क्या जो अपने आप से भिड़ा नहीं और वह शिक्का ही क्या जो उस संघर्ष के हथियार न जुगा सकी ।” अच्छा, यह कहो कि तुम बनारस जाते हो कब ?”

“हम यहीं जम कर अगर रेयाज न करें मालिक !”

“देखो भई, हमें इतमीनान”

“अबकी भूल हुई तो आप बनारस क्या, डामल भेज देंगे हमें ।”

भाई साहब ज़ामिन हो गए, और बिदेसी के सर पर आठों पहर यह जलावतन की तलवार तान उसे नज़र-बंद कर दिया गया जैसे । आखिर काँटे में तो काँटा निकले !”

दिन जाते देर नहीं होती—कब आया, कब गया ! जिन्हें कोई इंतज़ार है उनकी उँगलियों की पोर चाहे जा घिस जाय, किसी और की तो कानी उँगली भी नहीं हिलती ।

जाड़ा आया, जाड़ा गया । होली आई, और लीजिए—एक आकृत आई । साथ दो तो फिर बीच से लौट आने की राह नहीं; न साथ दो तो बचाव की गुंजाइश नहीं ।

जवान तो खैर जवान हैं ही—उनको छोड़िए । जो बड़े-बूढ़े हैं, उनकी बेशर्मी की बंदिशां पर तो जवानी भी आँखें मूँदें कानों पर हाथ रख ले । क्या बात है कि इन्द्रियों की सत्ता जब थर्राकर बैठ जाने पर आती है, तो हमारी हवस लगती है खामखाह रस्सियाँ तुड़ाने ।

हमारे यहाँ उन दिनों होली थी भी बड़ी एक वैसी-

सी । जो आज के हैं उन्हें कोई कैसे समझा दे कि कैसी !
न वह नज़र है, न वह मंज़र—न वह बुलबुल है, न वह
चमन ।

मगर हम यह मानने को तैयार नहीं कि आज के
इस युग में बेशर्मी की जगह शिष्टता आ गई है । रुचि
बदलती है, प्रवृत्ति नहीं बदलती । आदमी का खयाल
बदलता है, दिल नहीं बदलता । नज़र नई है बेशक,
तमाशा भी नया है जरूर; मगर तक्राज़ा है वही पुराना !
वह न बदलता है, न बदलेगा ।

आज किसी की बहू-बेटी के साथ सीने में सिना
मिला कर 'फॉक्ट्रॉक' पर थिरकना सलीके में दाखिल
है । वह ज़माना होता तो हम उन्हें गोली से उड़ा देते ।
आज के पढ़े-लिखों की निगाह में किसी की बहू-बेटी के
साथ हँस खेल लेना तमीज़ के खिलाफ़ नहीं । मगर होली
की चुहलों को, खुदा जाने, क्या-क्या नाम दे कर नाक-भौं
सिकोड़ लेते हैं वे । हम चौक के कोठे पर जाकर मोजरा
सुनते रहे, आज लोग शरीफों के घर जाकर आँख और
कान पसार नाचने-गाने का लुत्फ़ उठाते हैं । वह मोजरा
उन्हें खलता है, पर यह राग-रंग का सिलसिला कला के
अनुशीलन में दाखिल है । तब भी आँखें जुड़ाती रहीं,
आज भी वैसी ही जुड़ाती हैं । तब भी कानों में रस की
फुहार टपकी, आज भी कानों की राह वही मधुका संचार
है । दिल की करवटें भी शायद वही हैं, मगर हाँ, ज़माना

नारी क्या—एक पहेली ?

वदल गया है—साथ-साथ सीन भी—तमीज़ भी ।

हाँ, तो होली आई और हमारे यहाँ इसबमामूल लौंडे का नाच खड़ा हुआ । एक साहब ऐन होली के वक्त पेंशन लेकर घर लौटे । साथ-साथ जाने कहाँ से एक बाज़ार की नाचनेवाली भी लेते आए—‘बिजली’ उसकी कुछ न कहिए । जवानी के उठान की शर्म तो खो चुकी थी, जवानी के उतार की शोखी शुरू थी । सूरत तो बस कुछ यों ही थी, पर थी वह शराब-सी तीखी ।

पेशकार साहब बरसों पच्छिम में रहकर आए थे । हमारी होली उनकी निगाह में बिलकुल नपी-तुली किसी ढब की न थी । कहाँ देहात में लौंडे कमर में घाँघरे और पैर में घुँघरू बाँध जोगीड़े गा-गाकर जुगानी का नाच नाचते हैं—उन्हें लौंडों के नाच से अचढ़ ! एकबारगी उबल पड़े—“अजी साहब, शबंत शंबंत ही है, वह शराब नहीं हो पाती—उसमें आप लाख मसाले क्यों न हल करें । रामलीला या रासलीला हम समझ पाते हैं—भक्ति की आबहवा में लौंडे मजे में थिरकें, और चाहिए भी; मगर होली की मजलिस में प्याल की जगह पंचामृत का दौर चल नहीं पाता । और जब घर में तर माल मौजूद है तो फिर यह तुलसी का काढ़ा—कोई बात है ? कहाँ साग-सब्जी, कहाँ रोहू को पेटि ?”

और यारों ने एकबारगी चिल्लाकर कहा—“तो फिर नेकी भी पूछ-पूछ ? बस चलाइए अपना दौर । हम भी तो

देखें कि क्या मुनिया बुला ले आए हैं आप !”

और हमारे पेंशन पाये पेशकार साहब ने शाम की मञ्जलिस में बड़े तपाक से अपनी सौगात पेश की। दाईं ओर की कोठरी से परदे सरका वह कुछ ऐसी अदा से इठलाती आई कि बस आँखों-आँखों में दिल लोटकर रह गया। वह क्या आई, दौर पर शराब आई और आँखों में सुरूर आया। मगर जब वह आँचल की कलाबाज्रियों से यारों के कुतूहल को कुरेदती हमारे बीच घुटने मोड़ बैठ गई, तो देखनेवालों ने देख ही लिया कि जो कुछ वह दीखती है, वह है वह नहीं। जवानी की उतरन है बस। मगर तलछट ही सही, नशा तो है। न सही जवान, जवानी का जोम तो छलकाए चलती है। जवान होती तो शायद न यह जोम होता और न उसे छलकाने की हाजत। वह आप छलकता—जैसे नगीने की लौ।

मगर यारों की आँखों पर तो सरे शाम ही से शराब छा चुकी थी और यह प्याले की करामात है कि उस बहार के उतार पर भी कलई चढ़ा दी। रात न होती और आँखों पर नशे का कुहरा न होता, तो वह पाउडर की पालिश भी उस पामाली की पोल खुलने से पनाह न दे पाती। उसने शुरू की भद्दी-सी एक चटपटी चीज़—यह भी उस उतार का सिगनल ही समझिए—

उमंगे जवनिया मैं का कलूँ रे देया
कतनो मैं अँचरा बड़ा कलूँ रे देया...

नारी क्या—एक पहेली ?

और गाने के दौरान में आँचल हाथ में लेकर लगी जो अपनी मजबूरियाँ जताने, तो भाई साहब एकबारगी खड़-से पड़े—“अरे भाई, अब तो वैसे ससपंज के दिन जा पड़े—अब बड़ा रखा तो क्या, न रखा तो क्या !”

वह एकबारगी चौंकर मुड़ी—“क्या कह रहे हैं आप ?”

“यही कि क्यों नाहक बीते दिनों को कुरेद कर दिल दुखा रही हो ? कुछ और ही गाती ।”

“तो लीजिए, नहीं गाती ।”—और वह भाड़ के चने की तरह चिटक गई—खड़े-खड़े गाना बंद कर बैठ गई !

“लीजिए साहब, गाना हो चुका ! क्या मजे में गा रही थी बेचारी !”—पेशकार साहब झुक कर भाई साहब के कान में बोले—“क्यों नाहक छेड़ने गए आप ? होली का तमाम मजा किरकिरा कर धर दिया ।”

एक साहब बोल उठे—“गाओ बाईजान, उनकी न सुनो ।”

मगर वह काहे को सुने ? सिर हिला कर बोली—“न साहब, इस छेड़छाड़ में गाना खाक होगी ? आप बस देहाती लौंडों के जोगीड़े सुनिए । यह गाना-वाना आपके मान का नहीं ।”

पेशकार साहब ने हँस कर कहा—“और क्या ? कोई भैंस के आगे बीन बजाए ?”—मगर आहिस्ता से झुक कर भाई साहब के कान में बोले—“हो तुम एक ही

बुद्धू ! औरत के कलेजे में छुरी भोंक दो, वह कबूल, मगर भूल कर भी यह इशारा न करो कि वह जवानी से उतर गई है। काश, तुम सीने पर हाथ रख कर कहते कि 'भाई वाह ! क्या कहने हैं इस उठान के !' तो फिर देखते कि वह क्या रंग लाती ! यह बे-मौके छेड़ कर तुमने सारा मज्जा ही तीन-तेरह कर डाला !”

“लो भाई, मैंने तो कान पकड़े जो कुछ कहूँ ! अब भी तो रहम करो।”

और महफ़िल गूँज पड़ी—“हाँ-हाँ, गाओ-गाओ, कैसे-कैसे !”

मगर वह काहे को सुने ? मुँह मोड़ बैठ गई। पेशकार साहब बोल उठे—‘रहिए भी, कोई क्या गाए-बजाए ? कहा न—‘भैंस के आगे बीन ?’ आप बस देहाती रसियों के टप्पे सुनिए ! यों नशा तो सब नशा ही है, मगर दूकानी पीने वाले अँगूरी की कद्र क्या जानें ? आपने कभी सुना भी है ऐसा तैयार गला—या देखा भी है कहीं ऐसा दिलतोड़ नखरा ?”

भाई साहब को ताव आ गया। बोलें—“इस हैंकड़ी में न रहिएगा पेशकार साहब ! समझे ? ज़रा-सा मुँह से एक मज्जाक़ क्या निकल गया कि वह चली सर पर आस-मान उठा लेने ! ऐसी ज़िद की ऐसी-तैसी ! हमारे यहाँ एक लौंडा है बिदेसी जो आपकी इस बिजली की बैठे-

नारी क्या—एक पहेली ?

बिठाए कान तराश कर धर दे—क्या गाना, क्या भाव बताना !”

“यह लो, सुनो: कहीं गधा भी धोने से बछेड़ा हो सका है—वह भी देहाती लडुआ ?”

और बस, म्यान से जैसे तलवार खिंच गई। फैसला होकर रहेगा। बोतल ने इस तनाव की आँच में जैसे घी उमल दिया।

बिदेसी वहाँ मौजूद ही था। पेशकार साहब की निगाह जो उस पर गई तो ठठाकर हँस पड़े।

“अरे यह बिदेसी ? बेचने को बैंगन, कहाने को सेठ !”

बिदेसी को तैयार करना खेल नहीं था। वह लौंडे के नाच के कूचे से गुजर चुका था। उस सतह से उठ कर कला की ऊँचाइयों की माँझलें तय कर रहा था। फिर पलटना उस गंदी गली में उसके लिए एक मुश्किल का सामना था। मगर जब हमारी खुशी पर उसकी रोटी थी, तब बिचारा फड़फड़ा कर रह गया। हमने कहा—
“अरे भाई, हर्ज क्या है ? और फिर कल होली की रात है। तुम्हारी तारीफ तो जब है कि यही गाना, यही नाच तुम ऐसा उतार दो कि तुम बीस और वह उन्नीस रहे।”

पेशकार साहब ने छेड़ा—“मगर भाई साहब, कहीं मर्द भी औरत के जामे में उतर सका है ?”

जानी-सुनो-देखी

“जी, यही तो कमाल है उसका ।”

और बस कल की ठहरी । मगर हमें कल आये कैसे ?
जी रह-रहकर विकल हो उठता कि बिदेसी कहीं मिसरी
की पेशानी पर बल पा गया तो फिर बैठे-बिठाये पिट
गये हम ।

आज होली है। बड़े इन्तज़ार पर आई है—लाई है
बहार का प्याम घर-घर। वस जो है वह उसी रंग में है।
एक मदहोशी का आलम है—क्या अन्दर, क्या बाहर।

मुँह-अँधेरे ही तालाब के किनारे बिदेसी पर नज़र
पड़ी—हैं ! आज यह बौढ़म यों गुमसुम क्यों बैठा है—
दुनिया से निराला ! सबेरे ही हुलिया बिगड़ गया क्या ?
और उसी पर हमारी जीत या हार का दारमदार ठहरा
आज.... हो न हो, थिरक रही होगी मिसरी उसको
नज़र पर—उसके अन्तस्तल पर भी। वह देख रहा है
मिसरी का जलवा—सुन रहा है मिसरी का गला। जभी
तो वह देखकर भी मुँहे देख नहीं पाता—पैरों की आहट
सुनकर भी कुछ सुन नहीं पाता। आखिर बिदेसी की होली
तो मिसरी ही ठहरी। वह साथ है तो फिर होली क्या
और दीवाली क्या; वह साथ नहीं तो फिर होली कैसी—
दीवाली कैसी !

मैं पास जाकर छेड़ बैठा—हाँ, विदेसी, आज होली है न ?

वह चौंक उठा—सोने से जाग पड़ा जैसे । लगा मुझे एक टक देखने ।

‘का मालिक ?’

—‘अरे भाई, आज होली है न ?’

‘हाँ, सरकार, है तो; मगर.....?’

‘मगर ! सो क्या ?’

‘यही कि दो दिन बाद आती.....मिसरी अपनी साथ रहती तो.....’

‘तो फिर क्या ?’

‘तो कुछ और ही रंग लाती आज !’

‘हाँ, ऐसे तो कोई रंग लाई नहीं । है न ? बस रह गया तू लड्डूगोपाल !’

विदेसी बुत !

‘हाँ, तो तेरे लिए अभी होली आई नहीं, जोड़ी जो फूट है तेरी.....आई है हम जैसों के लिए—क्यों ?’

विदेसी लगा मेरी बातों की रीढ़ ढूँढ़ने ।

‘अबे पागल ! जो मज्जा इन्तज़ार में है वह कभी बसाल में आने को है । तू जा रहा है जिस रासलीला की पौर पर, उसे मैं देख चुका हूँ जाने कितनी बार । मेरे साथ तो कोई तलाश नहीं—कुतूहल नहीं । फिर तू अच्छा कि मैं अच्छा ? आज तो जैसी तेरी तड़प—तेरी ललक है वैसी

नारी क्या—एक पहेली ?

ब्याह के बाद कभी मयस्सर होने की है। फिर कभी छान्ती के रोएँ वैसे सिहर पायेंगे—तेरी रगों के लहू में यह उफ़ान होगा। एक वह है जो मिसरी का गला सौ बार सुन चुका, एक तू है जो जा रहा है उसे कल सुनने। दोनों में कौन होना चाहेगा तू ? कह तो अपने सीने पर हाथ रखकर ।’

‘मगर कल का ठिकाना क्या ? पल में जाने क्या हो ।’

‘तेरा सर। कल कहाँ जाने को है भला ! मगर तुझे तो कल नहीं। उजाले में भी दीखता है अँधेरा। अपनी नज़र की बलिहारी’ ‘कहाँ आज होली की सौगात नई चूनर के लिए मिसरी पलकें विछाये तेरी बाट जोड़ रही होगी, कहाँ तू’

कि विदेसी तड़प उठा। दौड़ आई उसके चेहरे पर सुखी—उसकी आँखों में बिजली।

‘हाँ, मालिक ! बड़ी भूल हो रही थी’ ‘आज ही पहुँचा देना है उसके घर ।’

‘अभी, अभी। समझा ?’

‘मगर’

‘फिर वही मगर ?’

‘पैसे तो पास रहे नहीं, सरकार ! बैसाख आते-आते मकान तैयार करा लेना है। जो कुछ हाथ रहा उसी में खप गया ।’

‘अच्छा, ठहर। देखता हूँ—अन्दर कोई सबील हो।

‘जरा बैसी गुलेनार हो किनारे पर बेल’ एक और भी रहती तो..’

‘यह लो, चुपड़ी और दो-दो ?’

‘जमुनी के लिए भी तो एक चाहिए न ?’

चूनर तो रंगीन मिल गई अन्दर । लाकर बिदेसी को दे दिया । ताकीद कर दिया कि एकाध रुपये का मीठा या चटपटा कुछ रख लो—मुट्ठी-भर गुलाल भी ।

उधर बिदेसी पड़कता हुआ चला जमुनी के घर, इधर गाँव के होली के रसीलों का दल आ पड़ा । राग-रंग का सिलसिला चला । और जब लगी एक ओर बोतल ढलने और दूसरी ओर बूटी छनने, तो वह भरी महफिल रंग ही में नहीं, नशे में भी शराबोर हो गई ।

बस जब अन्दर महल से खाने की तलबी आई, तब कहीं पता चला कि नशा जो चढ़ा सो चढ़ा, दिन भी चढ़ आया है काफी ऊँचा । यहाँ तो जब बोतल लगी है ढलने तो फिर दिन ढलने की परवा क्या ?

अन्दर कदम रखते ही मिसरी का गला सुन पड़ा । ‘मक पड़ा मैं । मिसरी में घुला वैसा लोचदार गला कोई क्या होगा । सितार की मीढ़ भी मात है उससे । मगर मुझपर नज़र पड़ते ही वह छुईमुई-सी सिमट गई खंभे की आड़ । टूट पड़ी वह गीत की लड़ी भी उसी पल ।

देखा, मिसरी के ईर्दगिर्द दस-बीस की टोली-सी

नारी क्या—एक पहेली !

खड़ी है और चल रही है आँखों की मटकी और चुट्टलों की ठिठोली भी ।

जमुनी मुस्कराती सामने आई तो मैं छेड़ बैठा कि आखिर ऐसा भी क्या, हमारा भी इस घर में उसके गले का रस पीने का हक है—वह होंठ दाब रुकी क्यों ? बस, यहाँ दालान में आकर ज़रा चाब से एकाध ब्रज की होली तो सुना देती... खाने में भी मज़ा आ जाता ।

जमुनी उबल पड़ी कि वह तो सर के बल गाने आती ; मगर आज सामने आते झेंप रही है कि कहीं माँग की लाली दिख गई तो जाने क्या समझ लेंगे हम ।

‘माँग की लाली ?’—हमने चौंक कर पूछा ।

‘हाँ, मालिक, बिदेसी न गया था हमारे यहाँ आज । बड़े वक्त पर होली की नई चूनर दे गया—गुलाल भी एक दोने में । मिसरी जो लगी शर्म से कन्नी कटाने, तो हमने वह डाँट बताई कि बाह ! आज साल के दिन दो चुटकी गुलाल उसके हाथ से सर पर रख लेगी तो क्या ऐसा हिल जाएगा तेरा ? ऐसा भी कहीं होता है । बस आना ही पड़ा जैसे-तैसे, और बिदेसी काँपता-झिपता जो लगा सर पर गुलाल रखने तो जाने कहाँ से वह झोंका आया कि उड़ गया सर का आँचल और आ पड़ा गुलाल उसकी माँग पर... भर गई माँग लाल-लाल... मर्जी उसकी !’

तभी देखा कि मिसरी झिझक रही है—भर्वें तान रही है तो क्या, उसके चेहरे पर तो रस और उमंग के आँकड़े

जानी-मुनी-देखो

साफ हैं। काली लटों का एक गुच्छा थिरक रहा है गुलाबी गालों पर और भर आई है आँखों में मासूम शरारत की हिलोरें भी। हाय-हाय ! न हुआ उस वक्त मेरे हाथ छोटा-सा कैमरा, नहीं तो फोटो उतारकर रख लेता—शर्म और शोखी में पगी जवानी के उस जलूस का।

मैंने कहा कि लो भई, अच्छा ही हुआ। आज होली के दिन तो सिन्दूर की जगह गुलाल ही खुलेगा सर पर। अब क्या है, बस गाओ-बजाओ, खुशियाँ मनाओ जी खोल।

जमुनी होंठ सिकोड़े मुस्कुराती रही, बोली—‘यही तो मैं भी कह रही हूँ, मालिक, कि ले मिसरी, अब तो भगवान ही ने जैसे माँग भर दी। बस, अब विदेसी के घर पहुँचा देना है तुम्हें आज रात’—‘होली की रात सुहाग रात हुई तो चार चाँद ही लग गये उसमें।

मिसरी खंभे की आड़ से हाथ फैला उसे खँचे जा रही है अपनी ओर। मगर जमुनी तो कुछ दूध-पीती बच्ची न थी, वह ठहरी उसकी दीदी की नमद और आज ठहरी होली की छूट। बस, मुस्कुरा रही है, आँखें नचा रही है और लिये जा रही है चुहचुहाती चुटकियाँ निरन्तर।

मैंने भी देखा कि हर्ज क्या, रहे यही दौर आज।

‘हाँ भई, बात तो बड़े पते की है, फिर हिचक कैसी ? दिल मिल ही चुके हैं, माँग भर ही गई एक गौ से, फिर

नारी क्या—एक पहेली ?

बैसाख के लगन में क्या सुखाब का पर लगा है। भगवान का दिन तो सब है, तिसपर आज होली—साल का दिन, और हम जैसे बुजुर्गों का आशीर्वाद।

जमुनी तो रहे पर रहा रखती चली, बोली—‘सो तो सही है मालिक, मिसरी को भी छू गई है विजली। सबेरे चुटकी में अवीर लेकर लगी जो दूल्हे के पैरों पर झुककर रखने, तो झका-बका विदेशी ने हाथ थाम ऊपर जो खेंचा तो छाती से छाती छू गई जैसे। अब माँड़ो का व्याह तो एक रस्म रह गया बस।’

‘तो आखिर क्या राय ठहरी सबकी ? हमारी राय तो सुन ही चुकी।’

‘क्या बताऊँ सरकार, बड़ी-बूढ़ी जो दस-से-मस नहीं होतीं, कहती हैं कि दस दिन बाद कोई शुभ घड़ी देख रस्म होकर ही तो साथ रहना है, यों नहीं।’

हाय ! विदेशी की किस्मत मुस्कुराई भी, तो मुस्कुराकर रह गई क्या ! जवान पर तो उठने को आया कि मारो गोली बुजुर्गों की इस टोली को; मगर होश के आगे जोश को झुकना पड़ा। ऐसे गये-बीते गाँवों में तो जमाना उनका ठहरा—समाज की बागडोर उनके हाथ। कोई पत्थर पर सर फोड़कर पाएगा क्या ! बस, जवानों के दिल की हसरतें तो दिल ही में उठ-उठकर बैठ जाती हैं बराबर।

‘हाँ, आज मालकिन की तो राय है कि इसी आँगन

जानी-सुनो-देखी

में मिसरी और बिदेसी वही राधा और माधव की मान-लीला दिखा पाते...'

'न भाई, आज नहीं, कल । आज की रात तो कुछ और ही समझ है, किसीको फुर्सत नहीं ।'

'तो फिर मिसरी ही अकेली रंग लायेगी आँगन में ।'

'और क्या, वह गले में दिल उँडेल दे तो आसमान से फरिश्ते उतर आयें उसकी आरती उतारने ।'

'अरे मालिक, आज तो वह भीड़ होगी कि आँगन में तिल रखने की जगह न रहेगी । इसी दिन के लिए तो गाँवभर की बहू-बेटियाँ जाने कब से आस लगाये बैठी हैं ।

खैर, दो-चार कौर मुँह में रख बाहर आया, तो भाई साहब उबल पड़े कि बिदेशी तो आज अपने-आप में नहीं । देखिये न—वह क्या थिरक रहा है जाने किस गीत की धुन पर । और हवे पर उड़ उड़कर आती है—

कदम उठा के मेरा तिलमिला के रह जाना

झुका के सर को तेरा मुस्कुरा के रह जाना

निगाहे नाज़ से साक़ी का देखना मुझको

फिर अपने हाथ में प्याला उठाके रह जाना

देखा, वह सामने तालाब के किनारे भूमता हुआ मछलियों को जाने क्या-क्या खिलाये जा रहा है और होली की लहरों का वह रेला है उसमें कि रोआँ-रोआँ तक गुनगुना उठता है जैसे । उधर पानी की सवह पर

नारी क्या—एक पहेली ?

तैरती मछलियों पर टक लगाये पनडुब्बियों का जत्था मँड़रा रहा है ईर्दगिर्द, इधर संगीत की भूमती लय की तरह गला खोल थिरक रहा है बिदेसी अपनी रसमस्ती के आलम में। तालाब में खिले कमल के फूलों पर गुञ्जन-शील भौरों की मौज भी वैसी क्या होगी।

भाई साहब बोलें—‘होली ठहरी न, पीकर आया है कहीं से।’

मैंने कहा—‘जी नहीं, यह बोतल का नशा नहीं। भूल गये—क्या कहा था उस दिन, जब वह ताज्जी मलछियों की भरी टोफरी उँडेल बैठा तालाब में—एक मौज पर। अरे भई, यह मिसरी की जादूनजरी है जो रम रही है उसकी नस-नस में आज, तिस पर होली की सहज मस्ती। उसने तो जब पीया तब उसी रतनार आँखों से ही लेकर पीया, नहीं तो रह गया अपनी मधुशाला की पौर पर माथा टेके। आज का यह करश्मा कोई बाज़ार का ठर्रा क्या दिखा पायेगा भला।’

शाम आई, हमारी शामत आई। आई बोतल, और लीजिए—ठुमुकती आई वह बनी-ठनी बिजली भी।

आई तो है बिजली गिराने, मगर कहीं कल की तरह उसकी आँखों में ही कौंधकर रह गई तो...

ओ हो ! आज भी होठों पर वही व्यंग्य है—वही तान-तेवर !

पेशकार साहब की ज़वान की नुकीली छुरी पर

प्याले की चुस्की लगी सान देने । वे क्या-क्या न उबल पड़े अपनी शान में । किसी की एक न चलने पाती उनकी चुनाचुनी के चलते । मगर भाई साहब को तो किसी की बात पीने की लत नहीं, तिस पर आज पी भी ली थी काफ़ी । उनके आते ही महफ़िल गर्म हो उठी ।

‘जी, अभी लीजिए, नहले पर दहला देता दै बिदेसी । ऐसी कितनी बिजलियाँ बुझकर पानी भरेंगी उसके सामने

और बस, भाई साहब खड़े-खड़े बिदेसी के सिर हो रहे—हमारी लाज तुम्हारे हाथ । बदी थी कलवाले गीत की । वह बीस न आया तो उनको बैठे-बिठाये खानी पड़ी मुँह की ।

बिदेसी था भी मजे की मौज में आज । मिसरी की निगाहों का नशा अभी उतरा न था । मगर भाई साहब को वैसा इतमीनान नहीं । उसे दो चुल्लू पिलाकर ही तो छोड़ा । यों तो वह रंग में आता नहीं—और बग़ैर आये किसी और पर रंग लाएगा क्या ?

उसने गाने के अनुरूप रूप बनाया । जवानी के मद में इठलाती एक दिहाती युवती की बानगी । औरत की-सी शक्ल और डील तो उसकी थी ही । चेहरे और शरीर पर भी एक अजब नज़ाकत की छाप थी । जभी तो, जब

बन-सँवर कर वह सामने आया, तब पता पाना आसान न था कि वह ऐसा बना है—ऐसा है नहीं; सूत में सूत मिल गया हो जैसे । घाँघरे पर लहरिया चुनरी, पीठ पर लहराती चोटी, माथे पर बन्दनी, ललाट पर बिन्दी, सीने पर चुस्त नीमास्तीन गेंद की-सी उभरी छातियाँ, पैरों में घूँघरू—कहीं भी कोई बल नहीं ।

बिदेसी के गले की लहर पर एक समाँ खड़ा हो गया । और जब वह लगा उस गाने के भाव को अपने हाथों से, उँगलियों से, निगाहों से, लचकती कमर की लोच से, बदन की एक-एक पोर से दिखाने, तो फिर कुछ न पूछिये; क्या तसवीर खड़ी हो गई ! आँचल सर से बार-बार सरका कर भी सीने की ऊँचाइयों को पनाह न देने की तड़प तो उसके गले की धुन ही से नहीं, उसके अंगों के एक-एक पहलू से फूट पड़ी ।

पेशकार साहब ने तो वैसी सज-धज्र कभी सपने में भी नहीं सोची थी । सीने के उस तनाव पर तो कटकर रह गये ।

भाईसाहब ने उन्हें छेड़कर पूछा—“यह आँखें फाड़ क्या निगले जा रहे हैं आप ?”

“अरे भई, क्या बताऊँ ? ‘निगह उस बुत के सीने पर पड़ी है’ ।”

“तो लीजिये, ‘अजब ऊँची जगह किस्मत लड़ी है’ ।”

“उहूँ, आखिर तो यह कागज के फूल !”

“तो हर्ज क्या ? आप बुजुर्गों को तो आँखें सेंकना है । कागज के रहे तो क्या, चमन के रहे तो क्या ?”

बिदेसी का गला गूँजना था कि अन्दर और बाहर एक पल में बिजली-सी फैल गई कि यह कौन गा रहा है ? हाँ, जो जानकार न था, उसे तो पता चलना भी मुश्किल था कि यह औरत नहीं—मर्द है ।

सारा सहन और सहन के बरामदे तमाशबीनों से भर गये । दुतल्ले की छत औरतों को भीड़ से थरा उठी । हमने निगाह जो दौड़ाई तो देखा कि जमुनी की पीठ पर अजब उतावली-सी मिसरी भी खड़ी है । वह खिच कर मुँड़े तक आ गई है—चेहरे की नसें खिच आई हैं और आँखों में एक विचित्र दीप्ति है ।

यों चक्कर काटती हुई हमारी निगाह पेशकार साहब और उनकी उस रखेली पर उतरी, तो कुछ न पूछिये, क्या बादल छाये थे उन पर । वही कैफ़ियत—‘मियाँ की जूती, मियाँ के सर ।’ किसी बनी-ठनी वेश्या के मुकाबले एक दिहाती लौंडे का यों होली का मस्ताना समाँ खड़ा कर देना—एक तमाशा ही क्या, एक करश्मा हो गया । मगर पेशकार साहब कुछ वैसे मनहूस न थे कि आज होली की रात दिल में कोई जलन पालते ! किस खूबी से उस हार को अपनी जीत में पलट दिया ! अपनी बगल की बिजली को खोदकर छेड़ा—“देखा, यहाँ की मिट्टी का जौहर ? क्या रंग ला दिया एक पल में ।”

नारी क्या—एक पहेली ?

“हाँ-हाँ, देखा। यहाँ के मरदुए भी जैसे जनाने हैं।”—वह हाथ चमकाकर एक चुटकी लेती हुई बोली।

“बस, कुत्ते की दुम, कभी सीधी न होने की। तुम काहे को मानोगी ?”

“अरे रहो भी। बहुत देखे हैं ऐसे लौंडे। यहाँ तो रेंड भी रूख में शामिल है।”

एक साहब तिलमिलाते उठकर लगे बिदेसी के गले में हाथ डाल भाव दिखाने। और फिर तो ऐसी भद्दी मटकी, ऐसे खुले इशारे, ऐसे गंदे नखरे और ऐसी चुटीली फरमाइशें शुरू हो गईं कि बिदेसी की जान के लाले पड़ गए !

और पेशकार साहब बड़े तपाक से हाथ का गिलास छलकाते हुए उठे कि ‘ले भाई, आज से तू ही रहा, इस मुँहजली को जवाब !’

और नशे के उस उफान में ऐसे उबले कि बिदेसी को चट अँकवार में समेट उसके दोनों गाल चूम लिये।

बिदेसी तो शर्म से लाल-लाल हो गया। ऐसा लगा कि गाना बन्द कर देगा। मगर चारों ओर से ‘हाँ-हाँ, चलने दो’ की आवाज़ गूँज उठी और इनाम के दो-चार रुपए भी ठनक पड़े।

कि तड़ाक से कोई पत्थर-सी चीज़ टूटकर बिदेसी की कनपट्टी पर आ लगी। बस वहीं माथा थाम बैठ ही तो गया। खून फर-फर निकल पड़ा।

जानी-सुनी-देखो

‘हैं ! हैं !! किसने फेंका ? पकड़ो-पकड़ो’ की गूँज चीख पड़ी । ‘अरे कहीं वही पेशकार साहबवाली तो नहीं है । जलती भी रही बड़ी ऐंठी-सी ।’

और पल मारते सारी महफिल उखड़ पड़ी । कितने तो इधर-उधर सरक चले । हम चटपट भीड़ चीर बिदेसी के पास आ गए । देखा, वह एक हाथ से पुटपुर थामे लरज़ रहा है—अब गिरा, तब गिरा ।

“क्या है बिदेसी, क्या हुआ ?”

“क्या बताऊँ सरकार, यह देखिए न ।”

हमने झुक कर देखा—अरे, यह पत्थर नहीं, वही सोने का कंठा है ! तो क्या मिसरी ने.....!

x

x

x

x

यारों की टोली छूट गई । आज होली की रात यह दर्द-सर कौन मोल लेता । जितने थे, सब हँसी खुशी के साथ रहे । खुशी के साथ आए, खुशी के साथ गये । बिदेसी के आँसू से आँसू मिलाने वहाँ कौन ठहरे आज होली की रात ।

तो टूट गया वह जमघट । रह गये दो-चार हम । हमें भी काटो तो खून नहीं । ठक । बस उसी महफिल की बुझी हुई रौनक की यादगार एक ‘बिजली’ जाने क्या सोचती चुप खड़ी है । चेहरे पर एक रंग आ रहा है, एक रंग जा रहा है ।

बिदेसी तो दोनों हाथों अपना माथा थामे औंधा पड़ा

नारो क्या—एक पहेली ?

हैं वहीं। रह-रहकर लगता है हाँफने—सिसकियाँ लेने जैसे। और कनपटी की चोट से लहू की दो-चार बूँदे उसकी उँगलियों पर तैरती हुई चूरही हैं धूल में सनी हुई उसकी अँगूरी साड़ी के पल्ले पर।

तभी 'बिजली' को जाने क्या छू गया। झपट कर आई और लगी बिदेसी को गोद में समेटने। और चट अपनी फिरोजी चूनर के पल्ले से एक चिट फाड़ लगी उसकी पुटपुर से लहू के कतरे उठाने। बिदेसी ने करबट ली—खुल गई पलकें—शोले की एक ऊँची लौ-सी चमक आई उसकी आँखों में, और चट पैर का एक झटका बिजली के कुल्हे पर मार सरक गया दो गज अलग। मगर दूसरे ही पल एक टूटी हुई बेल की तरह लुढ़क पड़ा उसकी बाँहों पर जैसे।

हठात् पेशकार साहब जाने किधर से भूल पड़े। हो-न-हो, लौट आए बिजली को ढूँढ़ने। बिजली का यह नया रवैया देख खिंच आई उनकी आँखें—चढ़ गया पारा।

‘अच्छा ! तो तेरे गले में वह कंठा आएगा क्या ?’ और हाथ की छड़ी से उसकी पीठ पर एक साँट देते हुए मुड़ गये—‘जा री हरामजादी ! कहीं की न रही तू।’

रात का सन्नाटा। बिदेसी बेजान-बेहोश-सा बिजली के बाजुओं पर औँधा गिरा है। चाँद की चाँदनी पड़ रही है फीकी ! सितारे झिलमिलाते हुए झिप रहे हैं आसमान

जानी-सुनी-देखो

में। फूलों की भीनी लपट से लगी है जाने क्या ऐसी दम-बोटती बू उड़ने। हवा की सर्राहट रह-रहकर आहें भर रही है जैसे। बस, सड़क के उस पार से किसी के मस्त गले का लहरा हारमोनियम के सुर पर थिरकता हुआ आता है—

‘किसी की खेलती—खिलती जबानी देखते जाना।’

और भाई साहब, नशे में चूर, तड़प कर सामने आते हैं—‘अबे पागल, गाने को क्या और गाये जा रहा है क्या ! ले सुन—

‘किसी की धूल में मिलती जबानी देखते जाना।’

मिसरी की तलाश बेकार हुई। जाने कहाँ गुम हो गई वह। जहाँ भी हो, वह निचोड़ कर ले गई बिदेसी के जीवन से सारा रस—रस का उत्स।

अन्दर पता चला कि मिसरी तो आँगन में वह रंग लाये हुई थी कि टकटकी बँध गई थी सबकी।—फाग गाती रही और आँचल पसार भाव भी बताती रही। निराली थी उसके गले की लय। और अजब मस्तानी उसकी कमर की लोच। बस सारी टोली के दाँतों तले उँगली थी।

औरतों की वह भीड़ जमी कि भुमके से भुमके खनकते। और 'बाह मिसरी' की गूँज मची थी चारों ओर—कि इतने में मुनिया बाहर से हँकासी-प्यासी दौड़ती आई—'अरे चल-चल, यहाँ क्या रखा है इस हुल्लड़ में, बिदेसी तो वह रंग लाया है जैसे कि सोलह साल की बिटिया। वह छाती, वह मस्ती कि ले मिसरी, तेरी भी वैसी क्या होगी।' और बस, बिदेसी के नाम पर भर से

जानी-मुनी-देखी

वह मजलिस छूट गई, और सब की सब बाहर वाले सहन की छत पर दौड़ गई तमाशा देखने। मिसरी जो कटकर लगी नख से धरती कुरेदने, तो जमुनी उसकी गर्दन में हाथ डाल खींच ले चली—‘अरे चल-चल, तेरा तो हम रोज देखेंगी, उसका तो आज ही भर न।’ और अन्दर के आँगन में एकाध बूढ़ी दाई के सिवा और कोई कब टिका ?

जमुनी ने कहा—“हो-न-हो, वह पलटू को लेकर तो नहीं उड़ गई। था भी वह तमाशे में एक ओर खड़ा। वही जब-तब उसे छेड़ता भी रहा कि ‘ऐसे जबर बाप की बेटी अब एक नचनिया की आँगिया सियेगी क्या।’ कौन कहे, यकायक क्या आग उपट आई उसमें—”

नारी में मातदिली तो है नहीं—वह आग है या बर्फ, शोला है या शवनम, पीयूष है या विष। राग है तो फिर जान दे देगी. विराग है तो फिर जान ले लेगी। करुणा है तो वैसी ही, ईर्ष्या है तो वैसी ही; ममता है तो वैसी ही और हिंसा है तो वैसी ही।

बिदेसी के सर की चोट तो उसके चेहरे पर एक चिह्न रख ही गई, उसके अन्दर की चोट क्या दाग दे गई—कोई कैसे कहे। पता नहीं, जाने क्या टूट गया उसके अन्दर कि अब न वह हँस पाता है न रो पाता है। एक अजब खोया-सा दिखता है बे-लौस. गुमसुम।

यों गाने को तो वह आज भी गला फाड़ लेता है।

नारी क्या—एक पहेली ?

कहने को तो वही बिदेसी है, वही गला ; मगर कोई कहे तो सीने पर हाथ रख कि है वही बिदेसी और है वही गला । वह दिल ही न होगा तो क्या आह निकले । हमें तो लगता है कि जैसे बिदेसी गिर गया—बस खड़ी है उसकी देह । बीते दिनों की एक निशानी है वह । कहने-सुनने की एक कहानी है वह ।

हायरे करम ! हमने क्या सोच रखा था और क्या होकर रहा यह ! तो क्या 'वह चमन ही लुट गया जिस में बहार आने को थी ?'

मगर दुनिया को क्या पड़ी है कि किसी पर क्या गुज़र रहा है कब । वह तो अपनी माँग सीना तोड़कर लेगी ही—बिदेसी चाहे जैसे दे । दस दिन भी न बीते होंगे कि एक साहब उसे अपने यहाँ जलसे में ले जाने के लिए सिर हो गये । भाई साहब ने कहा भी कि 'दम धरिये अभी कल ही तो उसके सर की पट्टी खुली है' ; मगर वे काहे को सुनें, उनके लड़के की छठी का दिन तो टलने का नहीं । उसका कन्हैया का अभिनय उनकी आँखों में फिर रहा था । वैसी चीज देहात में वे कहाँ ढूँढ़ पाते । रहा राधा का पार्ट, तो जाने कैसे उन्होंने उस बिजली को मना लिया—अभी वह वापस गई न थी, आज-कल करती जाने क्यों रुकी थी । वह अक्सर बेर डूबते आती, एक-आध चैत गा कर सुनाती भी । वह तान-तेवर तो था नहीं, बिदेसी के हाथों मुँह की खाकर वह जैसे उसका मुँह

जोहने लगी थी । वह चाहती रही कि बिदेसी उसी आवेश में आकर एक-आध चीज उसे रोज सुनाया करे ; मगर छछन कर रह जाती बिचारी; बिदेसी उसकी एक न सुनता । कभी कोई भोंक आ गया तो दो-चार लपेट कह गया । जो बिदेसी के उठान से परिचित थे उनकी निगाह में चाहे कुछ भी न हो वह—पर वह तो उसी को लेकर चूर हो जाती, और रह रहकर हाथ मलती कि हाय ! बैठे बिठाये क्या हो गया इस पर !

आखिर बिदेसी को छठी के जलसे में जैसे-तैसे ले ही गये । उसने न 'हाँ' किया न 'ना'—साथ चल दिया । हमने भी समझा कि यहाँ का हवा-पानी बदलता है तो चलो, उसका जी तो ज़रा बहलेगा—यहाँ तो ज़र्रे-ज़र्रे में अतीत की बे निशानियाँ भरी पड़ी हैं, यहाँ रहकर वह चीस भरने में काफ़ी देर होगी ।

मगर हमें क्या पता था कि दो दिन के लिए वह जो आज जा रहा है तो फिर आ न रहा है । बस जो वह गया सो गया, फिर न लौटा ।

पता चला कि वहाँ कन्हैया बनने को तो वह बना—वही सजधज, वही मुकुट, वही मुरली ; एकाध गान गाया भी, बाँसुरी भी फूँकी, घुँघरू बाँध थिरका भी ; मगर एकाएक जाने क्या सनक सवार हो गई उस पर—अपना गाना बीच ही में छोड़ वह गा उठा—

‘मेरा तोरा रे नज़रिया से मिलना ।’

नारी क्या—एक पहेली ?

राधा बनी हुई बिजली ने ज़रा डाँट जो बताई तो एक अजब आवेश में तड़प उठा—‘चल हट, तू मेरी राधा कैसी ।’ और बस वहीं खड़े-खड़े मुरली और मुकुट तोड़-मरोड़ उसके सर पर फेंक चलता बना । यारों ने पौर पर पकड़ चाहा कि उसे छठी का दूध याद करा दें, तो बिजली ने बीच में पड़ सारा इलजाम अपने सर ओढ़ लिया ।

यों बिदेसी जाने कहाँ उड़ गया हमारी ममताओं के जाल के बाहर । फिर किसी अड़्डे पर जा बैठा, किसी स्नेह की ढाल पर अपना नीड़ बाँधा, या योंही इस लम्बे-चौड़े शून्य में उड़ता फिर रहा है, पता नहीं !

क्या उलट-फेर है इस दुनिया में । अपना हो जाता है पराया, पराया हो जाता है अपना । कोई पाँच साल बाद की बात है । भाई साहब जाने किस काम से बनारस गये थे । एक-आध हफ्ते में लौटकर आये तो योंही बातों के सिलसिले में कह बैठे कि बिदेसी ‘दाल की मण्डी’ की एक साँकरी गली में उसी बिजली का तबलची है । हमने चौंककर कहा—‘क्या ? तबलची !’ तो हँसकर बोले—

“कोई वैसा तबलची भी नहीं, एक यों ही है । यह बात और है कि वह तबला भी बजा लेता है, सारंगी भी । नशे के झोंक में जी उभर आया तो ‘बाह यार, क्या कहने हैं’ के बड़ावे पर एक आध कड़ी गा कर भी सुना देता है । मगर बग़ैर पिये एक नहीं । वह पीने भी लगा

है बेतरह । जम कर गाये-बजाये क्या, बेर डूबते तो वह खुद डूब जाता है अपनी बोतल में ।

“एक अजब किस्सा है । बिजली उसे अपनी देख रेख में नज़रबन्द रखती है । कौन ठिकाना, कहाँ उड़ जाय । वह छटपट करता है । जबतब उसे बेतरह ठोक भी देता है, गालियों और झिड़कियों की तो कोई हद नहीं; मगर बिजली के होठों पर न उफ़ है, न उसकी सेवाओं में कोई बल । घर वाले आँखें तरेर कर थक गये, वह टस-से-मस नहीं होती ।”

बिजली ने क्या पा लिया है उसमें, पता नहीं । बिदेसी के पास तो न वह दिल है, न वह गला । किसी के लेने लायक कुछ रहा नहीं । मगर नारी ही जाने कि वह कब क्या ढूँढ लेती है किसी में । जो उसमें क्या-क्या नहीं पा लेती, वह तो उसमें कुछ न देख ठुकरा गई, और जो हमारे देखते कुछ नहीं पा सकती है, वह जाने क्या देख रही है उसमें—क्या पा रही है उसमें । है भी इस पहेली का हल कोई ?

और हम सोचते हैं—एक बड़ मिसरी भी नारी है, एक यह बिजली भी नारी है । वह बड़े बाप की बेटी थी, यह कहीं की नहीं है । मगर यह क्या रहस्य है कि एक अपनी होकर भी कलेजा पाश-पाश कर धर गई और यह कोई भी न होकर भी बग़ैर कुछ अपने लिए चाहे यों दोनों हाथों दिये जा रही है बराबर ! तो क्या, यह उतार

नारी क्या—एक पहेली ?

लेगी गंगा को इस उजड़े मरु में ? आयेगी हरियाली फिर इस ऊसर में ? नारी में संहार की सत्ता है तो निर्माण की भी होनी चाहिये । और हम यह कैसे मान लें कि दिल वह शीशा है कि जब टूट गया तो फिर टूट ही गया ।

×

×

×

और बस, शाम हो आई । आसमान की लाली भी लगी नीली पड़ने । रह गई शतरंज की बाजी बिछी की बिछी । टापते रहे खड़े-खड़े बिसात पर मोहरे । कब सूरज डूबा, कब आसमान पर चांद उठ आया और कब सुन्दर आकर मोमबत्ती का शामदान एक ओर ओसारे में रख गया—पता नहीं । हम तो चचासाहब की जबान की चाशनी में पगी मिसरी और बिजली की पहेली की रसमस्ती में ऐसे डूबे कि दुनिया का पता तो दूर, अपना पता भी भूल बैठे । और, मजलिस के हर मेम्बर के दिल में तरस की एक टीस-सी उठ आई कि हाय राम ! ऐसा कब-क्या है नारी प्रकृति का रवैया, ऐसे मिलेजुले हैं राग और द्वेष के तानेबाने, और ऐसी संगीन होती है किसी के दिल की लगी—बिचारा विदेसी, क्या होता और क्या होकर रह गया !

तभी मास्टर साहेब, जो उस मजलिस के सिरमौर थे, मुस्कुराते हुए बोले—“हाँ भई, आपकी मिसरी और बिजली तो सचमुच एक पहेली ही ठहरी—अपने ढंग की निराली । अपनी यों पल में पराई, और पराई यों अपनी

हो गई । मगर कसूर माफ़, यह क्या से क्या हो गई—एक हृद तक अनूठी जो हो, मगर मुन्नी बाई, जो कहाँ-से-कहाँ उठ आई, तो वह पहेली है कि ज़माना भी दाँतों-तले उँगुली रखले ।”

“तो फिर नेकी भी, और पूछ-पूछ ? बस कही डालिए लगे हाथों ।”

मोह और बोह

कल बी० ए० का इम्तहान है। मुकुल की जान होठों पर है। अपने क्लास में बेजोड़ है तो क्या—जी को चैन नहीं।

कोई एक महीने से घर पर है। आया था दो दिन के लिए बूढ़े लाला की बीमारी का तार पाकर, मगर घर में कुछ ऐसी अड़चनें आ पड़ीं कि आज-कल होता रहा—लौट न सका बेचारा। शहर में जिन रिश्तेमन्द के डेरे पर रह कर कॉलेज में पढ़ता रहा उनकी कहीं दूर बदली हो गई। अब जाय कहाँ ?

खैरियत थी कि कोर्स की किताबें साथ थीं। तमाम हलचलों के बावजूद भी अपनी धुन पर बना रहा—उसकी गाड़ी कभी पटरी से उतर न पाई।

बूढ़े लाला ठहरे पुरानी चाल-ढाल के पाबन्द। शुभ दिन और शुभ घड़ी की तालाश जरूरी है—मुकुल जो जा रहा है यूनिवर्सिटी की परीक्षा में बैठने। यात्रा के समय चन्द्र सन्मुख न रहा तो इतमीनान नहीं।

जानी-सुनी-देखी

कल इम्तहान है। आज तीसरे पहर दिन में यात्रा का शुभ मुहूर्त ठहरा। गाँव से दस मील दूर स्टेशन। ऊबड़ खाबड़ कच्ची सड़क। एक्के की सवारी—इकिया-नूसी। मरियल घोड़ा टख टख। और ट्रेन छूटती है पाँच बजकर कुछ ही मिनट पर।

स्टेशन तो वह पहुँच गया जीते-मरते, मगर एक्के के हलकोरों ने जोड़-जोड़ उखाड़ कर रख दिया।

स्टेशन आकर सुना कि गाड़ी कब आयेगी—कोई ठिकाना नहीं; जाने कहाँ एक मालगाड़ी का इञ्जन पटरी से उतर गया है, रास्ता बन्द है; डाक गाड़ी तक जान सकी।

बस उड़ गए होश, उमर आई जाने क्या-क्या आशंका, और भर आया आत्मा-धिकार कि न साइव के फेर में पड़ता और न यों किश्वी ममधार आती। यही है पुण्य नक्षत्र, सिद्धि-योग और सम्मुख चन्द्र ! वह धूर्त पंडित कहीं सामने होता तो पा जाता अपने किये का फल।

वह तो भगवान भला करें उसके गाँव के उस तमोली का जो उसकी जान में जान डाल गया यह कह कर कि गाड़ी आधी रात से पहले आकर रहेगी—स्टेशन मास्टर से खुद सुन कर आया है वह।

खाने की तो खैर वैसी कोई फ़िक्र न थी, मगर पढ़ने की गुंजाइश प्लेटफार्म पर कहाँ होती। वह एक जान-पहचान की दूकान पर अंग्रेजी का नोट खोल कर बैठ

मोह और छेह

गया। बैठ तो गया, पर जी उठा नहीं। वह लगा बैठे-बैठे ऊँघने। न पढ़ते बना, न खाते। कुछ ऐसी थकान थी कि किसी करबट कल नहीं। अगर नींद पनाह न देती तो वह बैठा-बैठा माथा चीरता रहता कि कहीं ट्रेन न आई तो.....।

कान में गाड़ी की धमक पड़ी, उनींदी आँखें चमक पड़ीं। जैसे-तैसे टिकट लिया और दौड़ चला प्लैटफार्म पर।

गाड़ी में बड़ी भीड़ है। प्लैटफार्म पर मुकुल दौड़ रहा है—दौड़ रहा है। तीसरे दर्जे के जिस डब्बे में घुसना चाहता है, धक्का पाता है बिचारा—दरवाजा रोके जाने कितने जय-विजय खड़े हैं। खिड़की की राह घुसने की गुंजायश नहीं। मगर, करे क्या, उसके साथ एक छोटा-सा बक्स है—एक बण्डल। वह खुद भी कोई ऐसा चरफर नहीं कि हो जो हो, लोहा लेकर रहे। बस दरवाजे-दरवाजे खड़ा होता है, हाथ जोड़ता है, सर फोड़ता है—‘कल सबेरे ही बी० ए० का इम्तहान है भाई, कहीं गाड़ी छूट गई तो डूब गया मैं खड़े-खड़े—मिल गई धूल में दो साल की मिहनत; बस इतनी दया करो, खड़े होने भर जगह दे दो।’

कोई टोक बैठता है—‘यह बक्स-बण्डल भी तो है—अलम-गलम।’

“माथे पर लिए रहूँगा—जैसे हो।”

“चलो, चलो, आये हो.....”

“मुकुल सिट्ट ! किसी के कान पर जूँ तक नहीं रेंगती ।

“अजी ऐसी पड़ी है तो इण्टर में क्यों नहीं घुस पड़ते । चन्द पैसे ही.....।”

“मगर टिकट बदलने का वक्त कहाँ ?”

“बस रहे तुम । कोई पकड़े तो अपने कम्पाटमेंट में गिन देना फाजिल ।”

गाड़ी छूटने की घण्टी पड़ी । इण्टर तो इण्टर, वह फर्स्ट क्लास में भी घुस पड़ने को तैयार ! बला से दो-चार रुपये फाजिल ही लगे । नब्ब छूटे तो छूटे, पर ट्रेन न छूटे । बस दायें देखा न बायें । सामने जो इण्टर देखा, उसी में गिरते-पड़ते जा घुसा ।

जान में जान आई । देखा, कम्पाटमेंट काफी लम्बा है । मर्द तो खैर भरे ही हैं, एकाध साड़ी-दुपट्टा भी हैं—लहालोट !

“यह लो, यह कौन घुस आया यहाँ । कहा था न—दरवाजे पर सीना ताने खड़े रहो, कोई आये नहीं—मगर जैसे हो, तुम....।”

एक आवाज आई—“अच्छा भई, आये तो आये, अब आदमी की तरह उतर जाओ । नहीं मानते तो तुम जानो—देखते नहीं कि डब्बा रिजर्व है ।”

तो यह कोई कड़ियल की आवाज है क्या ? हाँ तो, वह क्या बैठे हैं मसनद के सहारे दाँयी ओर बेखर पर,

मोह और छोड़

गुड़गुड़ाए जा रहे हैं हुक्का गंगा-जमुनी । हो न हो, कोई चोटी के रईस हैं । सर पर जुल्फें हैं, आँखों में सुर्मा, पर पिचके गाल और पेटी पड़ी तोंद । जो है सो उतका मुँह जोह रहा है जैसे । सामने चाँदी के तश्त में बनारसी तबक़दार गिलौरियाँ भी सजी रखी हैं एक क़रीने से ।

मुकुल तो बुत्त—काटो तो खून नहीं ! देखता है, कहीं भी तिल रखने की जगह नहीं । लोग भरे पड़े हैं । कोई बारात-पार्टी है क्या ? बस बाईं ओर खिड़की से लगी जो बेंच है उस पर बनी-ठनी एक औरत टाँग फैलाये लेटी हुई—आँखों में कुछ चुहल, कुछ कुतूहल लिये एकटक देख रही है उसे ।

बोला—“एक ओर खड़े ही रहेंगे भाई, आप इत-मीनान रखें । कल बी० ए० का इम्तहान न होता।”

मगर किसी फ़रियाद की दाल न गली ।

हुक्के की नली सरका कर लाला साहब उठ खड़े हुए छड़ी फटकारते—“अच्छा तो तुम्हारी शामत आई है ? कहा न, यहाँ तुम्हारी जगह नहीं ।”

और फिर कितने हाँ में हाँ मिलानेवाले लपक आये—
“हाँ-हाँ, डब्बा खाली करो ।”

मुकुल अब गिरा तब गिरा—थरथरी लग गई जैसे । मगर, डूबते को तिनके का सहारा । उस औरत की ओर मुड़ा । झुककर भर्राई आवाज़ में बोला, “बहन ! तुम तो मेरी.....”

जानी-मुनी-देखी

इस 'बहन' की दर्दभरी पुकार पर वह जैसे चौंक पड़ी, उठ बैठी। उधर पास के बेंचवाले हँस पड़े।

वह बड़ी नरमी से लला साहब की ओर रुख कर बोली, "जाने दीजिए सरकार, है कोई दुखिया। गाड़ी जो छूट रही है..... अच्छा भाई, बैठ रहो इसी बेंच पर उस ओर।"

वह बैठा ही है कि गाड़ी ने सीटी दी, और लगी सरकने। हठात् खिड़की के पास किसी की दर्द-भरी आवाज़ आयी—“बाबू ! एक पैसा !”

प्लैटफार्म पर सामने लाठी टेकता कोई बूढ़ा भिखमंगा है—हड्डियों का ढाँचा।

मुकुल की बिगड़ी बन आई है, जी खुला है। चट उसका हाथ कोट की ऊपरी जेब पर गया। हैं ! वह बटुआ क्या हुआ, कहाँ खो गया ? हाय राम ! तब से छूट कर आँच में पड़ा क्या ? अब कैसे क्या होगा ? किसके दर पर माथा टेकता फिरे ?

कोट और कुरते की तमाम जेबों की तलाशी ले डाली। तो क्या टिकट लेने के वक्त खिड़की ही पर छूट गया उजलंत में ? किसी पाकेटमार का तो काम नहीं ? अरे ! वह टिकट कहाँ रख दिया ? गिर तो नहीं पड़ा कहीं ? होश में रहा ही कब ?

बक्स खोल डाला, बण्डल खोल डाला। कपड़े और

मोड़ और छोड़

किताबें बिखर पड़ीं । वह ढूँढ़े जा रहा है, ढूँढ़े जा रहा है—बेहोश, बेकार ।

एक तमाशा हो गया वह । लोग आँखें फाड़ देख रहे हैं, मुस्कुरा रहे हैं—कोई पगला है क्या ?

और मुकुल की आँखों में फिर रही है कोट-पैण्ट में लैस टिकट-चेकर की भयावनी सूरत, माथे पर डण्डे की चोट और पुलिस की हवालात ।

शहर में कोई वैसा सगा नहीं, कोई डेरा नहीं । जो था भी एक, वह तो कभी का टूट चुका । स्टेशन से तीन मील शहर, सर पर बक्स और बण्डल ढोये कहाँ भटकता फिरेगा ? कॉलेज के किसी संगी-साथी को कहाँ ढूँढ़ेगा ? कल ही सबेरे तो जीने-मरने का दिन ठहरा । होगा भी अपने में कोई कल सुबह ?

मिला था घर से चलते वक्त गली की मोड़ पर वह काना ! गाँव के सिवाने पर झाड़ियों की ओट लिए जाने कौन-सा एक चौपाया पूँछ सटकाये रास्ता काट गया ! हो न हो, था वह सियार का बच्चा । भरसक कहीं का न रहा आज !

तभी, बेंच पर बैठी वह औरत धीरे से सरक आई । साँसी में बोली, “अरे भई, यह क्या तमाशा खड़ा कर रखा है ? कहीं लाला साहब फिर उबल पड़े तो ?”

“क्या बताऊँ बहन, लुट गया मैं ।”

जानी-मुनी-देखी

और पास की बेंच पर वही चुहल-भरी हँसी—
वही चुटकी ।

मुकुल भौंचक-सा बना रहा । आँखें फाड़ रह गया ।
वह टोक बैठी, “अरे कहो भी, छोड़ो इनको ।”

“क्या कहूँ, चालीस का चालीस गायब, टिकट तक
नहीं छोड़ा ।”

रूँधा गला, भराई आवाज़, छलकते आँसू । और
वह लगा छाती के पास की जेब उलट कर दिखाने ।

एक साहब छेड़ बैठे—“अरे यह क्या चल रही है
घुस फुस ? कलेजा निकाल कर दिखा रहे हैं क्या ?”

“अजी इस दरबार में दिल दिखाने का दस्तूर नहीं,
बस जेब दिखाइए-जेब !”

“यही तो दिखाना चाहता रहा बेचारा, मगर उसमें
है भी कुछ । हड़प ले गया कोई ।”

“तो फिर यहाँ गुजर नहीं । उठिये, कहीं और दिल
उँडेलिये ।”

मुकुल को तो पता तक नहीं कि उसी के सर पर चुहलों
की चुटकियाँ चल रही हैं यारों की मजलिस में । वह तो
अपना तमाम सामान उलट-पलट कर टटोल रहा है—
बिखेर रहा है बेसुध, और रह रह उठ आती हैं गले में
सिसकियाँ-सी जाने क्या ?

फिर वही दर्द-भरी मीठी आवाज़ मुकुल के कानों में
पड़ी, “क्यों जी हार बैठे हो, ज़रा हिम्मत से काम लो ।”

मोह और छोट

हैं ! यह तो एक दर्दमन्द का गला ! और उसे लगा कि उन आँखों में कुतूहल ही नहीं, शील का सलिल भी है, क्या जाने—तरस भी ।

“अच्छा, लाओ तुम्हारी चीजें सहेज कर रखे देती हूँ । भगवान जो सर पर है—कोई रास्ता तो निकल ही आयेगा ।”

और वह लगी झुक कर मुकुल की बिखरी चीजों को समेटने । तभी पास की बेंच से दो-चार उठ पड़े—
“अरे, यह क्या कर रही हैं आप ? लाइये, हम रखे देते हैं... लो भई, उठो, इम्तहान तो तुम्हारा आज है । यों जी फेल कर बैठे तो फिर बी० ए० की डिग्री किस मर्ज की दवा होगी ।”

मुकुल उठ बैठा । लगा बिखरी चीजों को बण्डल में रखने ।

वह लगी एक कड़ी गुनगुनाने—मीठे-धीमे सुर में—

मैं हूँ अकेला एक तरफ़, दुनिया की दुनिया एक तरफ़

रस का समुन्दर एक तरफ़, आँसू का कतरा एक तरफ़

खिंचती है दुनिया, उससे क्या ? छुटती खुशी है, उससे क्या ?

सारा ज़माना एक तरफ़, दिल का तकाज़ा एक तरफ़

एक समाँ छा गया । खड़े हो गये यारों के कान ।

थिरक उठे दिल । एक साहब उबल पड़े—“हाँ भई, ज़रा जी खोल कर गाओ । कल का गाना भी तो अधूरा ही रह गया । रह गये हम हाथ मल कर ।”

जानी-सुनी-देखी

बस चारों ओर से फरमाइशों की झड़ी लग गई—
“हाँ यार, यही तो मैं भी कहना चाहता रहा। क्या गला है—क्या करश्मा ! जी लोटकर रह जाता है ! मगर—

“इस दौर से तो भींग न पाया है गला भी.

इक दौर नया और चला मेरे साक्रिया।”

वह राग की रानी सब सुनकर भी सुन न रही है जैसे। जाने क्या गुनगुना कर यारों की हविस तो चौंका दी, मगर दो पल बाद बैठ गई होंठ सीकर।

हठात् गाड़ी सिगनल के इधर ही खड़ी हो गई। मुकुल चौंक पड़ा—“यह लो ! यह नई बला कहाँ से आई ? यों घड़ी टेढ़ी होती है किसी की भगवन् !”

लगे पल पर पल ढलने। एक-एक पल पहाड़ हो चला। खिड़की के बाहर सर निकाल वह लगा टोह लेने कि माजरा क्या है।

इञ्जिन की ओर से गार्ड आ पड़ा। पता चला कि आगे जो डाकगाड़ी गई है उसके इञ्जिन में जाने क्या हो गया है—बस सामने स्टेशन पर रुकी खड़ी है। एकाध घंटे की देर तो होकर रहेगी।

रात का सन्नाटा। हवा में खुनकी। घिर आये हैं आसमान पर बादल। चमक जाती है रह-रह कर बिजली की लौ। और धक-धक कर उठता है मुकुल का दिल। बूँदों की फुहार भी कोई ठंढक ला नहीं पाती।

वह देखता है कि सामने बेंच पर बैठी वह एक टक

मोह और छोह

उसी को हेर रही है और आँखें जैसे कह रही हैं कि हम हैं न तुम्हारे साथ—यों रो-धो कर क्यों गिर रहे हो बेकार ?

तभी एक आवाज़ गूँजती आती है—“क्यों भई, हमारी अर्ज़ी यों ही रहेगी क्या ? हमारे लाला साहब तो यही आसरा देकर हम सब को इस कम्पार्टमेंट में साथ लाये देखिये न, गाड़ी भी रुकी पड़ी है, कहीं कोई खड़-खड़ नहीं, समाँ भी कैसा है सुहाना । बस, ज़रा गला खोल।”

एक साहब छेड़ बैठे, “अजी आपकी जेब खुले तो उनका गला भी खुले । लीजिए हम सब अपनी ओर से हाथ बँटाने को तैयार हैं । बारात की भम्भड़ में तो चैन से सुन न पाये । अब यह मौक़ा फिर नसीब होने को है ?”

“शर्त मंज़ूर, हाज़िर हैं हम भी । मगर हारमोनियम लेकर—यों नहीं ।”

और हमारे लाला साहब ने पुकार कर मुहर लगा दी—“हाँ भई, गाओ, हम भी साथ हैं बराबर ।”

वह उठ पड़ी । बोली, “अच्छा तो उस बेंच के नीचे से वह हारमोनियम का बक्स तो।”

“बस, अभी लीजिए”, और एक साहब झुककर बक्स निकाल लाये और मुकुल की ओर ज़रा आँखें तरेर कर बोले—“हाँ जी, तुम उधर जा के बैठो, यह बेंच

खाली कर दो कि आप इतमीनान से बैठकर गा-बजा सकें।”

मुकुल के कान में आवाज़ तो गई नहीं। वह तो खिड़की के बाहर सर निकाल सिगनल की लाली पर आँखें गड़ाये बेसुध बैठा है—लाल पर हरा आने का इन्तजार है। अपने ही में ऐसा डूबा है कि पता तक नहीं—कम्पार्टमेन्ट के अन्दर किससे क्या फरमाइश है, क्या रविश।

“अजी छोड़िए इनको। होश का पता भी हो... गा-बजा लूँगी मजे में... आप तो बैठ जाइये।”

और बस, वह छेड़ बैठी हारमोनियम पर ‘दाग’ की एक गजल। मुकुल चौंका। मोड़ लिया सर अन्दर—अहा क्या गला है मीठा, लोचदार !

वह लगी गाने—

“दिल ही तो है न आये क्यों, दम ही तो है न जाये क्यों ?

मुझको खुदा जो सब दे, तुझ-सा हसी बनाये क्यों ?”

और हाय री अपनी लगी-लपटी ! मुकुल सुन रहा है जैसे—‘तुझ-सा दुखी बनाये क्यों !’

वह जो किसी ने कहा है न कि हुस्न के निखार में भी वह रस की बौछार—वह कशिश नहीं, जो है किसी मीठे गले के संचार में। बस वही समझ लीजिए कि आँख का जादू अगर दिल पर बोलता है तो गले का जादू दिल और दिमाग दोनों पर। वह उड़ा ले जाता

मोह और छोह

है आदमी को धरती से आसमान पर । और जब तक हवा में थिरकता रहता है वह गले का लहरा, तब तक इस मिट्टी की माया किसी को छू नहीं पाती ।

और, कानों को उमेठ होश उड़ा न सका तो फिर सुर का सुख क्या ? जभी तो भगवद्-भक्ति के उभार के लिए चिन्तन और मनन पर भी बीस ही आता है किसी लोचदार गले का कीर्तन ।

खत्म हुई वह गज्जल । नई-नई फरमाइशों की मूढ़ी चली । एक साहब अपने हैण्डबैग से ह्विस्की की बोतल निकाल बैठे । शीशे के गिलास को तलाश रही—आधे दर्जन ।

हमारे लाला साहब की नज़र पड़ी तो उबल पड़े—
“अजी वह तो पिलाए ही जा रही है गला उँडेल, तुम यह क्या उठे बोतल उँडेल पिलाने । पिला पाओगे वैसी नशीली ? देखते नहीं, अपनी निगाहों से, इशारों से, गले की धुन से क्या-क्या पैमाना छलकाए जा रही है वह ? जिसे प्यास हो वह पीये..... कहाँ वह रस का कौसर, कहाँ यह दूकानी बोतल !”

“सच है हुआ ! उसका मुकाबला क्या ? मगर यह बरसाती समौ और यह गला का लहरा रहा, तो फिर हमों क्या, हमारे यह भाई साहब भी अपनी कंठी तोड़ कर रहेंगे ।”

“तो आप पीने भी लगे हैं क्या ? बूटी ही छनती रही न बराबर ?”

बानी-सुनी-देखो

“जी, पीते तो नहीं; मगर कहीं वह अपने हाथों पिलाने आई तो फिर अपनी तौबा को पीना ही पड़ेगा—क्यों ?”
उधर वह हारमोनियम छेड़ गा उठी—

“घटा ऊँदो ऊँदो, यह मौसम सुहाना
इलाही ! मेरा आज तौबा बचाना
अभी देखो तौबे के टुकड़े उड़ा दूँ
मगर शर्त है, अपने हाथों पिलाना ।
जो किस्मत से तुम मुझको अपना बनालो
तो फिर मेरी ठोकर पर सारा ज़माना ।”

बस, वह समाँ बँधा कि किसी को पता तक न रहा कि कब सीटी पड़ी और गाड़ी खुली—कहाँ कितनी दूर निकल गई । यहाँ तो जो है वह अपने-आप में नह है । शराबोर है रस की बौछार में जैवे । मुकुल तक भूल गया अपना आज और कल, बस आँखें मूँद डोल रहा है उस रसीले गले के हिंडोले पर ।

गानेवाली ने भी घोल रखा है अपने गले में दिल, और गले से गला मिलाये कला भी आई है अनूठी ।

वह सुर की रसीली लहर उठी तो थी ‘दाग’ की गज्रल को लेकर; मगर चकर काटती हुई उतर आई ‘मीरा’ के ‘गिरिधर-गोपाल’ पर ! और फिर, आधी रात का राग—विहाग आया—तिलक-कामोद भी ।

गाना तो खत्म हुआ, मगर बना रहा वह स्वप्न का आवेश—नशे का खुमार जैसे ।

भोह और छोह

मुकुल तो आँखें बन्द किये लेट रहा खिड़की के पड़ोस में माथा टेके। एक नशे का आलम है उस पर। उसे तो पता तक नहीं कि किसने क्या रख दी चुपके से गानेवाली के हाथ में—मेहनत की मजूरी। वह बेचारी भी थक कर लेट रही है तकिये पर सर रखे। और, जो जहाँ बैठा है वहीं ढल गया है अपने सुरूर में विभोर।

पौ फटने पर आई है। गाड़ी एक मॉके से खड़ी हो गई किसी स्टेशन पर। चौंक पड़ा मुकुल। खुल पड़ी आँखें और खुल खेलने लगे चेतना के जाने किस बिल से निकल कर फुफकारते हुए विषधर। खाए जा रहा है डर उसको, और सामने प्लैटफार्म पर खड़ा एक-एक साहबी पोशाक दिख रही है टिकट-चेकर की सूरत-सी। कम्पार्ट-मेण्ट के अन्दर किसी की आँखें खुली नहीं हैं। होती ही है भोर की नींद बड़ी मीठी।

बस उस बेंच के एक सिरे पर बैठी वह गानेवाली आँखें खोल देख रही है मुकुल के चेहरे पर रेंगती हुई परेशानी की लहरें।

आँखें चार हुईं। मुकुल को लगा कि भगवान की देन गला ही नहीं, दिल भी शायद है उसमें, और उस दिल में दर्द का स्फुरण भी है किसी क्रूर; जभी तो उसकी आँखों में मरौवत की वह लहर नज़र आई, जब हर किसी की पेशानी पर एक टेढ़ी लकीर-सी खिच आई—

आँखों से शरारे छूट पड़े कि यह दाल में मक्खी-सा कहाँ से आ पड़ा।

तभी वह धीरे से सरक कर मुकुल के पास आ गई और आँचल की आड़ देकर जैसे रख दिये गुपचुप उसके पाकेट में चालीस के नोट।

“यह लो, तुम्हारे ही लिए.....।”

होठों पर उँगली देकर वह चुप हो रही, और चुप बैठे रहने को इशारा भी कर गई।

तो वह नहीं चाहती कि दाहिने हाथ की करतूत बाँयें हाथ तक खुले। अह! उसके हृदय की बीन के तारों पर जो राग उठ पाता है उसके आगे तो गले का राग भी मात है सरासर।

भर उठा मुकुल का रोआँ-रोआँ। उचक पड़ा दिल होठों पर। भींग उठा सम्मान की भावना से मानस। और, छलक आये आँखों में कृतज्ञता के आँसू। वाणी विचारी कहाँ समेट पाये भावानुभूति के उस बवण्डर को? वह मना न भी करती तो क्या, जबान की बिसात ही क्या? बस धर दिया आँखों ने दिल उँडेल कर।

यह हृदय का अर्घ्य तो बस नज़र ही से संभव है—जबान तो उसे उठा नहीं पाती—लाख सर मारे वह।

हठात् कम्पार्टमेन्ट के एक कोने से कोई चिहुँक कर पुकार उठा—“हाँ भई, बनारस अब कितनी दूर है?”

“एकाध स्टेशन, बस।”

मोह और छोट

आ गई गाड़ी बनारस । खिल उठा है मुकुल का मुर्माया चेहरा । आये टिकट-चेकर-कोई परवा नहीं । मगर उस स्नेह की देवी के आगे यों होंठ सीकर रहना तो एक मुश्किल का सामना है । आँखें कह रही हैं तो क्या—वह चाह रहा है कि ज़बान भी साथ दे पाये । मगर, वह तो उठ पड़ी है—सर झुकाये बाँध रही है अपनी दरी-चादर । बस, भीड़ सरकने का इन्तज़ार है । उसका परिचय भी कुछ पूछ न पाया, न जता ही सका अपने दिल का तकाज़ा । और कहाँ कहें, क्या कहें, कैसे कहें—सोच रहा है वह ।

उस पार्टी के सिरताज लाला साहब चलने को तैयार हैं । गानेवाली की ओर रुख कर बोले—“लो, मैं चला, कुछ ज़रूरी काम हैं । तुम्हारे लिए जोड़ी आई होगी ।”

और बस लगे सब संगी-साथी चटपट उतरने—अपनी-अपनी राह लेने ।

वह भी बाँध-बूँध कर उतर पड़ी । मुकुल साथ ही उतरा । हो लिया उसके पीछे ।

वह हक्का-बक्का देखता है—अरे यह तीन-चार और कौन हैं उसके साथ ? साज़िन्दे हैं क्या ? उतर आये दूसरे डब्बे से । तो क्या वह है एक ?

जो भी हो, जाने वह । उसकी छाती में दिल तो है, आँखों में मुरौबत । अबतक तो हमें एक माँ भर मिली

थी; इस जीवन में, आज एक दीदी भी मिल गई—हाँ एक दीदी ।

उसके सर पर न बे-मेघ की बिजली गिरती और न आसमान से एक देवी उतर आती उसकी डबाँडोल नैया को मरुधर से उबारने । सच तो, आदमी जब कुछ अनमोल पाता है तब किसी अथाह दुःख-प्रवाह में डूबकर ही पाता है—यों नहीं । जभी तो आपद के कंधे पर अक्सर कल्याण की सवारी आती है । लो, बस—भाई को बहन मिल गई, करुणा की मूर्ति । बहन को आज भाई मिल गया—स्नेह का दीपक । और क्या करश्मा है यह बहन का नेह !

माँ के दुलार में मधु की मिठास है, बाप के प्यार में कुनैन की कड़वाहट ; पत्नी के प्रेम में बोटल के नशे का सरूर है—भाई के स्नेह में शासन का गरूर । मगर बहन का स्नेह ! वह तो वह अमृत का मेह है जो बरस कर युग-युग से मुरझाए मन की लता को लहालोट कर देता है बराबर । वह तो वह दीपमालिका है जिसकी लौ से दिल का कोना-कोना जगमगा उठता है लकड़कन । माँ बेटे के सर पर नौ महीने के त्याग और शुश्रूषा का ऋण लादती है, बाप की नजर अपनी बुढ़ाई की लकड़ी पर रहती है, भाई उसे अपनी पीठ पर का प्रहरी समझता है, पत्नी अपने यौवन का संतरी । मगर दीदी तो देती है, सिर्फ देती है निछक़ा नेह का बरदान । उसे भाई से

मोह और छोड़

क्या लेना है ? भाव की भूखी, प्रेम में पगी, निर्द्वन्द्व रंग में रँगी वह कंगालिन तो केवल लुटाती है करुणा का कंचन । भाई के निराश नेत्रों में लगाती है आशा का अंजन—और भरती रहती है भाई की रीती भोली को सहारे के संबल से—विश्वास के बल से । दूसरे के पास अपनी हँसी-खुशी गिरवी रख कर भी सदा भाई के लिए कल्याण का कलेवा जुगाती रहती है निरन्तर ।

बस मुकुल ने इस तरह एक पल में अपने दिमाग से इस बात को निचोड़ कर निकाल दिया कि वह कौन है । वह जो भी हो—हो ।

तभी सामने खड़े किसी रेलवे अफसर ने अपनी जेब से पान का डब्बा निकालकर बड़े तपाक से उसके आगे रखा और उसने उठा लिए दो बीड़े पान मुस्कुरा कर ! “अरे भई, इस बिचारे का टिकट कहीं खो गया है । अब जो कहो.....”

“आपके साथ हैं न ? मैं अभी कहे देता हूँ—फाटक पर कोई टोकेगा नहीं ।”

पालकी गाड़ी खड़ी है—नई सज-धज । लोग आगे बढ़ असबाब रख रहे हैं गाड़ी की छत पर । पास ही नीम की छाँड़ में जैसे उसकी बाट जोड़ती खड़ी है वह ।

मिल गया मुकुल को मौका । बड़ी दर्द भरी बाणी में बोला—“बहन, तुमने मेरी लाज रख ली—मेरी जान

भी.....आज भगवान ने मुझे एक बहन भेज दी। रही होगी उस जनम में मेरी दीदी तुम।”

वह चौंक पड़ी जैसे। ऐसी श्रद्धा, ऐसी ममता ? यह नई दुनिया ? नया करश्मा ! कभी जो पुकारा हो किसीने यह कहकर ! कभी जो देखा हो किसीने इस नज़र से ! कहाँ यारों की बनी-चुनी मुँह देखी बोली—वह वासना में बसी दृष्टि—कहाँ यह दूध की धोई... ! बस, एक टक देखती रही मुकुल को, और उमड़ आए उन कजरारी आँखों में आँसू। बोली—“रहेगी बहन की याद ?”

“जान के साथ। इस्तहान के बाद तो मिलेंगे ही... लिये आयेंगे तुम्हारे.....।”

“वाह ! बहन से लेने में क्या लाज है.....अच्छा, अपना नाम-पता तो.....।”

मुकुल दे गया अपना परिचय। फिर एक दबी जवान में बोला—“तो फिर कैसे कहाँ मिल पायेंगे हम...अपना नाम-ठिकाना.....।”

“मेरा जान कर क्या करोगे ?” वह गाड़ी की ओर बढ़ चली सर भुकाए, “माँ-बाप क्या नाम देकर उठ गए, पता भी हो.....बस जिये जा रही हूँ जैसे-तैसे। अच्छा, खुद ढूँढ़ लूँगी तुम्हें एक दिन।”

“रहेगी भाई की याद ?”

मोह और छोड़

वह अपने आँसुओं में मुस्कुरा पड़ी—“तुमसे बीस ही, देख लेना ।”

बस गाड़ी में जा बैठी । वेलों की जोड़ी हवा हो गई । रह गया मुकुल आँखें फाड़ । दिल की कितनी बातें दिल ही में घुट-घुट कर रह गईं

और बस मुकुल से हमारी आँखें चार होती हैं। मैंने तो उसे डब्बे से उतरते प्लैटफार्म पर ही देख लिया था। रात की सारी बातें भी सुन ली थीं—लाला साहब के एक हमजोली से, जो हमारे भी जाने-पहिचाने निकले। मगर, वहाँ पर उसे छेड़ा नहीं। वह था भी नहीं अपने में उस पल। बस, ज्यों उस नाज़नी को रुखसत कर उसने एक्के की तलाश में इधर निगाह दौड़ाई कि चट पीछे से आकर मैंने उसकी आँखें बन्द कर दीं।

“कहो तो, कौन है ?”

वह एक पल खड़ा सोचता रहा। ऐसा डूबा हुआ था कि आवाज़ तक न पहचान सका। मटक दिए हाथ, “ओ, तुम ‘...’ वही कहा ‘...’। अच्छा, तुम्हारे साथ टमटम भी है ? लो, उसी पर यह बण्डल-बक्स भी रखो।”

“और तुम ‘...’ तुम कहाँ उड़े जा रहे थे ? निकल आये पर ‘...’ भूल गये आज क्या है सर पर ?”

मोह और छोड़

“अच्छा कह रहे हो। आया हूँ किस लिए यहाँ—
क्या-क्या परेशानियाँ मेलकर ?”

“वह तो मैं खुद ही देख रहा हूँ—वह लगन, वह
लगी—इस धुन में तो परेशानियाँ होंगी ही।”

“तो क्या देखा है तुमने ?” मुकुल लगा मेरी बातों
की तह टटोलने।

“नहीं क्या देखा है—सो कहो।”

“आखिर क्या देखा—सुनूँ भी।”

“देखी तुम्हारी चिनवन की चाह, तुम्हारे चेहरे की
चाँदनी ; तुम्हारी तड़प देखी, तुम्हारी ललक देखी। अभी
और क्या-क्या देखना है—जाने राम।”

“तो फिर रह गए तुम आँख रहते अंधे।”

“हम या तुम ? वह कभी होने की है तुम्हारी
कोई..... ?”

“हो चुकी वह, बाकी नहीं। भगवान करे, सभी को
एक वैसी हमदर्द मिले..... वैसी अपनी.....”

“तो बड़े खुश किस्मत हो यार ! मगर, यक़ीन नहीं
होता। उसमें अदा लाख हो, वफ़ा नहीं होती।”

“अजी, उसमें वफ़ा पहले है, अदा पीछे।”

“क्या कह रहे हो तुम ! वह जेब ढूँढ़ती है,
दिल नहीं।”

“जी, उसके साथ दिल पहले है—जेब पीछे।”

“तुम तो अपनी ही नज़र से न देखते हो सबको।”

“और तुम तो जैसे अपनी नज़र से क्या देखते हो ?.....अरे भई ! हर कोई ही देखता है—क्या हम, क्या तुम ।”

“अच्छा, छोड़ो इसे । आज जो सामने है उसे देखो । इम्तहान बाद उसके दर पर माथा टेकना । आओ, बैठो टमटम पर ।”

“मुझे उस दर का पता भी हो ।”

“यह लो, तो क्या तुमने समझ रखा है कि वह पर्दे की पत्नी है—खानदानी ? वहाँ गुज़र नहीं । अरे वह मुन्नी बाई—इस शहर की एकनामी-गरामी गानेवाली है—वेश्या । और एक शिकारी भी है अपने ढंग की अनूठी, आँखों से मारती है, तो होठों से अपने शिकार को जिला भी देती है अक्सर । मगर इस मरने-जीने की गली में तुम क्यों जाने लगे ।.....”

“तो वह लिये रहें अपनी आँख और होंठ का कमाल । इधर गरज नहीं”

“तो फिर उसके गले पर गए क्या ? हाँ, कमाल का गला है बेशक । पार-साल अपने एक दोस्त की शादी में उसका गाना सुना था । क्या बताऊँ, वह गला है कि रह गया जी लोटकर ।”

“अजी गला ही नहीं, दिल भी है बेजोड़ । वह न होता तो मैं आज इम्तहान दे पाता ? क्या जाने पुलिस की हवा-लात में होता ।”

मोह और छोह

और मुकुल सुना गया आप-बीती—“तो समझे भैया, वह दुनिया के लिए जैसी भी रहे, खुशी उसकी, मेरे लिए तो एक सगी बहन-सी.....”

“दुत् पगले ! अपने मुँह से अपने को गाली । रंडी भी किसी की अपनी हो सकी है । जोरू तो जोरू, यह बहन की भी एक ही रही ! भरसक तुम पर क्या-क्या चुटकियाँ चलती रहीं ट्रेन में । सब सुना है हमने । कान पक गए । हाँ, किसी को यह पता नहीं कि वह रात की कमाई का एक हिस्सा तुम्हें दे बैठी है गुपचुप । अजी वह दूर की कौड़ी खेलती होगी—कोठी का धान पहले कीच में डालते हैं न ।”

“अजी ऐसी अंधी नहीं है वह ।”

“तो क्या तुम्हारी उठती जवानी के जमाल पर लुट गई ?”

“दुत् ऐसी भूखी नहीं है वह ।”

“ओहो ! तो आसमान से कोई देवी उतर आई है—अनूठी—एक के लिए मधु लेकर, अनेक के लिए विष ! क्यों ?”

“मैं तो समझता हूँ—मधु और विष एक ही थैले के चट्टे-बट्टे ठहरे, जिसे जो मिल जाय । नारी में मदिरा भी है, करुणा भी और शायद प्रेरणा भी—जब जैसी तुम्हारी माँग ।”

“अजी कल्पना की छलांग रखो । किताबी बातें दफन

जानी-मुनी-देखी

करो। ज़माना देखो—ज़माना। वह जैसी सीधी-सादी बनी है वैसी हो नहीं सकती। 'दाल की मण्डी' कभी 'ब्रज की बीथी' न होगी। वह काँटों से भरी गुलाब की क्यारी है, कुछ तुलसी की वेदी नहीं। गये और दामन उलभे, लौटे लहू-लुहान होकर। उस बाज़ार में जवानी मिलेगी, रंगीनी मिलेगी। हाँ, मानता हूँ, गला मिलेगा, कला भी मिलेगी; मगर दिल नहीं, दर्द नहीं। वैसे जल तो सब जल ही है, मगर कहाँ गंगा का और कहाँ पनाले का।”

“मगर हमारी प्यास जो बुझा पाये, अपनी तो वही गंगा है, वही जमुना।.....तुमने दिल ढूँढ़ा ही कब उस गली में? शरीर का रस ढूँढ़ा और पाया। हृदय का रस न ढूँढ़ा, न पाया। और, दिल ढालने से दिल मिलता है, यों नहीं। तुम तो जब गए, सतह पर तैरते रहे; तह तक उतरे कब? और वह उस सतह को सजधज कर न रखे, तो अपना पेट पाले कैसे। वही कमल का फूल है, वही अँगूर, भौरे उससे मधु लाते हैं, बरें उसमें विष पाते हैं... मैं पूछता हूँ, तुम्हारे समाज ने रखा है उसे कहीं का? और रंडी तो रंडी, तुम अपनी ही घरनी को देख लो। वह रँगली या सजोधजी न रही तो तुम चट चले बाज़ार की ढूँढ़ने, वह बच्चे न दे पाई तो तुमने सौत लाकर उसके सर पर पटका: वह घड़ी-घड़ी तुम्हारा नाज़ नहीं उठाती, तुम्हारी मर्जी नहीं बजाती, तो उसकी छाती पर मूँग दलने में भी झिझक नहीं।.....तुम्हारा दिल तो उसको

मोह और छोह

ढूँढ़ता नहीं। ढूँढ़ता है तुम्हारा मोह—तुम्हारा काम। फिर वह दिल की देवी मिले कैसे ? बस मिलेगी वही रूप-रंग की दूकानी ।..... आफत का मारा मैंने उसे पुकारा जी खोल, कितने लोग भरे थे वहाँ, बड़े-बड़े मालदार, रईस, खान-दानी । किसी ने कुछ नहीं सुना । बस सुन लिया उसने, जो दुनिया की निगाह में ठहरी एक जेब कतरने वाली वेश्या..... और कतर बैठी मेरी सारी मुसीबत को ।..... बस, भाई मेरे ! तुम अपने रंगीन चश्मे से उसकी दुनिया के अन्दर झाँकते हो और फिर वही रंग उसमें पाते हो जो अपने शीशे में सँजो रखा है ।

“जैसे उसमें क्या अपना कोई रंग है, कोई मोह है, कोई काम है—वह तो दूध की धोई है सरासर, क्या ? अजी, शराब शराब है, दूध दूध । दूध के धोखे कहीं शराब उँड़ेल बैठे गले के अन्दर, तो फिर बैठे-बिठाए डूब गए। और वह देवी हो या दानवी—रखो उस बहस को । उसके रुपये तो लौटा दो, जैसे हो, इस्तहान बाद ही सही । तुम तो ठहरे सीधे-सादे, भोले-भाले, मगर यह दुनिया बड़ी वैसी है—समझे ? आज तो कौन क्या है—कोई क्या कहे, कैसे कहे ? कहाँ है बाजार में वह घी या दूध जिसमें कोई मिलावट नहीं ?”

और बस मैंने मुकुल की ओर से आँखें फेर उस एके वाले को खोदकर कहा—“हाँ जी, जानते हो तुम उस

जानी-सुनी-देखी

औरत को, वही तुम्हारे सामने एक नई पालकी-गाड़ी से.....”

“कौन नहीं जानता उसे सरकार । उसे देखा है—
सुना भी है एकाधवार । आज-कल शहर के एक बड़े रईस
को नचाये फिरती है अपनी उँगलियों पर ।”

“तुम जानते हो, कहाँ रहती है वह ?”

“जी, तो वहीं ले चलूँ क्या ?”

“नहीं, नहीं, आज नहीं ।”



मुकुल का विश्वास अभी पुराने ही लिबास में है। मैंने उसे लाख झकझोर कर अपनी लीक पर लाना चाहा, पर जाने क्या देख लिया है—क्या पा लिया है उसमें कि अपने उस नये आविष्कार के आनन्द को भूल नहीं पाता। एक नवीन अलोक का सन्धान पा गया जैसे कहाँ की एक बनी-ठनी पतुरिया की चितवन में—जो कब किसकी रही है और कब किसकी रहेगी ?

उसकी तो वही बँधी-सँधी दलील है कि दुनिया के लिए जैसी भी हो, जाने वह; मैं तो सहानुभूति से स्निग्ध उस कण्ठ-स्वर—उस नज़र का कायल हूँ बराबर। कहा न तुमसे कि उस रात ट्रेन में कितने ऐसे-वैसे भरे पड़े थे और मेरी तड़प की चीख हर छोटे-बड़े के कानों तक गई—किसी को मज्जाक सूझा, किसी को तमाशा; मगर क्या अजब कि मर्म तक उतरी एक ऐसे व्यक्ति के, जिसे

कहने-सुनने को भी दिल की दुनिया से कोई सरोकार हो नहीं ।

मैंने कहा कि मान लिया, नागिन के दाँत में जहर की जगह अमृत की बूँद भी है; पर उसके काटने की लहर तो और भी कहर लाती है । मेरा कहा मानो ······वह रुपये तो लौटा ही दो । अब तो इम्तहान से छुट्टी पा चुके तुम ?

“भई, रुपये लौटाना तो हमसे न होगा । क्या कहेगी वह भला ?”

“तो डाक से ही भेज दो ।”

“यह तो और भी करारी चोट होगी ···· नहीं-नहीं, यह नहीं जँचता ।”

“अच्छा तो खद ही चले चलो । लिये चलो कोई अच्छी-सी बनारसी साड़ी—कुछ-मेवे-मिठाइयाँ । तुम्हें वह भाई-बहन का खन्त ही है, तो फिर बहन के घर पहले-पहल खाली हाथ कोई जाता नहीं ।”

“अच्छा, तो लो यह चालीस । अपने पसन्द की कोई साड़ी ढूँढ़ लो बाज़ार में । हमें तो कोई वैसी पहचान भी नहीं ।”

“तो फिर वहीं चौक पर मिलना । वहीं से साथ चलेंगे उसके घर । उस इक्केवाले को बुलाये लेता हूँ—मगर, तुम चल सकोगे उस गली में ?”

“क्यों, जाने में क्या रखा है ?”

मोह और छोट

“पहले तो तुम बड़े वैसे थे—अब जो कहो ।”

“अजी, वह टाँका टूट चुका । आज दिल की करवट और है । अच्छा, यह पाँच और रख लो । कुछ फरमा-इशी मिठाइयाँ भी खरीद लेना ।”

शाम आई । बनारस की शाम । जवानों की जान आई । इधर संजीवनी बूटी छनी उधर मचल पड़े पाँव अपनी गली । . . .

फिर देखिए—नई अट्ठी के पंजाबी पर लहरिया चुन । टेढ़ी टोपी की बाँकी नोक । कोई पैदल—कोई फटन पर । हाथ में डण्डा—मुह में बिलौरी बीड़े और गले में भैरव का गण्डा । सर तना है आसमान की ओर—आँखें टँगी हैं, कान खड़े हैं । और दुतल्लों की छत से, सायबान से बरस रही है क्या-क्या रूप और रस की फुहारें । कोई क्या ले और कोई क्या नहीं ले ? जिसने उस देखा नहीं, उसे सुना नहीं, वह क्या जाने कि वह क्या छटा है—क्या तमाशा ।

मुकुल ने आज यह नया रवैया देखा तो चौंक पड़ा—“अरे भई, यह क्या हो रहा है भला !”

“कुछ तो नहीं । जो होता आ रहा है, सो होता है बस । जभी तो यह मरने-जीने का तीर्थ ठहरा । काशी आकर जो कचौड़ी-गली नहीं गया विश्वनाथ के दर पर माथा टेकने और शाम के झुटपुटे में दाल की मण्डी नहीं आया दुतल्लों के जमाल का जलबा लूटने, वह आदमी की देह

जानी-सुनो देखो

में आया न आया—दोनों बराबर । यहाँ तो जेब और जान उँडेल मरने ही का माहात्म्य है न ?”

हम आ गए अपनी मंजिल पर । देखा, दुतल्ले पर कोई आँखों की खूँराक नहीं—चिक्क है, बस । खिड़की के रंग-विरंग शीशों से लाल-पीली रौशनी छन रही है—और रह-रह कर हवा पर थिरकती आती है किसी के मोठे गले की काकली ।

मुकुल ने दायें देखा न बायें—चट घुस पड़ा अन्दर । खैरियत हुई, कोई दरवाजे पर न मिला । हम सीढ़ियों से चटपट ऊपर चढ़ चले दबे पाँव । कोठे की पौर पर ठमक पड़े । लगे कान देकर सुनने—

“सूरत जाने कितनी देखी, फितरत जाने कितनी देखी
क्या-क्या देखो, क्या-क्या जानी, फिर भी क्या देखी-क्या जानी
कोई अपना दिखवर होता ।

सीखें क्या क्या पाईं हमने, राहें क्या क्या छानी हमने
क्या क्या पाई, क्या क्या छानी, फिर भी क्या पाई-क्या छानी
कोई अपना रहवर होता ।

गीत की गूँज बोल रही है । मुकुल का रोआँ रोआँ डोल रहा है जैसे । और वह कान में झुक कर कहता—
—सुना न-क्या गला है, क्या दर्द ।... अरे भई, जिसके गले में यह दर्द है, उसके दिल में भी थोड़ा दर्द जरूर होगा । देख लेना, वह भी एक दिन गले की तरह खुल कर रहेगा—
—निमित्त चाहे जो हो, हम या तुम ।”

मोह और छोड़

भांककर देखा सजासजाया कमरा है। दो औरतें सुफेद फर्श पर बैठी गा रही हैं—बजा रही हैं। एक खिली-खुली, दोनो बाज्रुओं से भरी-उभरी है जैसे। दूसरी तो फूटती कली है—अधखिली। मगर हां, बड़ी के चेहरे पर क्या रूपरंग का निखार—क्या प्रतिभा की झलक है कि भई वाह ! छोटी तो बस यों ही है—वैसा गला न वह हुस्न का जलवा। क्या जाने बड़ी के हाथों तालीम पा रही है वह।

किवाड़ के पल्ले खोल घुस पड़े हम। सामने पड़ी वही बड़ी। वह चौंकीं। लगी आँखें फाड़ देखने, और उठ आई आँखों में शोले की लपटें जैसे—

“अरे, तुम ? तुम यहाँ आये ? ड्योढ़ी पर किसी ने टोका नहीं ?”

मुकुल बुत ! मैंने कहा, खूब ! बड़े आये हैं हज़रत ! जी हाँ—भाई जो ठहरे ! लीजिये बहन का स्वागत।

“चलो, उतर चलो। यहां जगह नहीं।”

यह जले पर नमक ! मुकुल के पाँव तले से धरती सरक गई ! बोला—

“क्यों, कुछ भूल हुई ?”

“ऐसी वैसी ! बस, अभी अपना रास्ता लो, हाँ।”

“आखिर क्या ऐसी . . .”

“अजी यहाँ तो बस दूकानी के खरीदार आते हैं सौदा

करने। तुम्हारे सर पर भी सौदा अच्छा, यह क्या है तुम्हारे हाथ में...

मुकुल को लगा कि वह सुन रहा है कुछ और, और देख रहा है कुछ और, जबान कुछ और कह रही है, नजर कुछ और, मगर वह जानना चाहता है कि दिल क्या कह रहा है उसका। हो न हो—वह नजर के साथ होगा; जबान के इस कोड़े के पीछे तो शायद उसकी समझ का कोड़ा है बस।

मुकुल ने रख दिया जो कुछ वह साथ लाया था।

“ओहो! ऐसी महीन फिलामिल साड़ी! तुम लाये हमारे लिए? तुम्हें कुत्ते ने काट खाया है क्या? क्या कहेगा कोई देख कर? यह क्या है? ओ... मेवे मिठाई... क्यों नाइट्र पैसे फेंकने गये? उठा लो इन चीजों को, बस... हाय राम! तो तुम भी...”

“तुम्हीं समझो, खाली हाथ पहले पहल बहन के घर...”

“ओ, यह बात है? वही कहें कि तुम कैसे... खैर, मगर मेरा तो यह अपना घर नहीं... बस दूकान पर बैठी हूँ। घर होता तो मैं खुद न... अरे, यह कौन है तुम्हारे साथ?”

“अपना एक भाई... साथी है।”

““तुम कैसे आए लाला?”

“फुर्सत थी, सोचा कि आपका गाना सुन आये। आपके गले की तो वह शुहरत।”

“हैं पैसे आपके पास?”

बोह और छोह

“पैसे तो नहीं, मगर ये तोहफे क्या कम हैं ?”

“अच्छा, तो तोहफे हैं ये ? तो बस उठा ले जाइये अपने तोहफे । यहाँ तो नक़्क़द सौदा है बस ।”

“लो मुकुल, तुमने तो गले के कमाल पर तारीफ का वह पुल बाँधा कि आ गये चकमे में—कि तुम्हारी बात कभी उठा न सकेगी वह । जाने क्या दावा है, जानो तुम । लो अब सुनो, वैरँग वापस जाने का हुकुम है • फिर जो तुम्हारी बातों में • • •”

वह ज़रा नरमी से बोली—“अच्छा, तो क्या सुनने की हविस है आखिर ? मगर, हाँ, आपको देनी होगी मेरी मुँह माँगी ।”

“वह क्या ?”

“यही कि फिर इस गली में झाँकना नहीं । कसूर माफ, यहाँ पैसे वाले आते हैं, आप जैसे निठल्ले नहीं ।”

और वह अपनी सहेली की ओर मुड़ कर बोली—
“अच्छा, चुन्नी । ज़रा छेड़ो तो वही धुन—‘अपना कोई दिलबर होता • • •’”

“मगर, जीजी, तुम्हें पता है, आठ बजने को जो आए ।”

“सच ? तो भई, लो, बस आदमी की तरह उतर चलो । कहीं लाला साहब आ पड़े—जैसे शक्ती हैं वे, तो फिर । • • •”

जानी-सुनी-देखी

“समझ गया। आपकी नज़र मेहरबानी इस गरीब पर नहीं।”

“यह क्या कह रहे हैं आप?”

“यही कि आपकी एक हथेली पर हम जैसों की जिन्दगी है, दूसरी पर मौत—मेरी किस्मत, मुझे जो दिला दे...”

“जिन्दगी कहते हैं किसको—मौत किसका नाम है

मेहरबानी आपकी, ना-मेहरबानी आपको”

मगर कोई रंग जम न सका। वह तड़प कर उठ पड़ी—चली आई खिड़की पर।

“वह क्या जोड़ी आई—लो, सुनो घोड़ों की टाप।”

और, खड़े कानों ने घोड़ों की टाप ही नहीं, किसी के कदम की चाप तक सुन ली सीढ़ियों पर खट-खट।

लाला साहेब कमरे में फट पड़े। और मुकुल पर नज़र जो पड़ी तो चढ़ गया पारा—उबल पड़े बेतहाशा—

“अरे—यह कौन हज़रत हैं?...ओहो! आप हैं! आ गये खिंच कर आखिर। आज कहाँ से पैसे बरस पड़े कि इस कूचे में कदम रख दिये। उस दिन ट्रेन में बैठने की जगह दे दी, अब हाथ धो पीछे पड़ गये?”

मुकुल ठक! देख रहा है लाला साहेब को एक टक।

“क्या ऐसी लगी-लिपटी है—सुनूँ भी? आँखें मिलाँ और जी ढल गया।” सच, जबानी तो हथेली पर दिल लिये फिरती है। है न?”

मुकुल की छाती में गोली लग गई जैसे। चाह रहा है

नहले पर दहला देना, उनकी आँखों में उँगुलियाँ डाल दिखा देना कि यहाँ आ पड़ा है तो क्या, वह इस बाज़ार का कोई खरीदार नहीं, न उनका रक़ीब ठहरा। मगर क्या कहे, कुछ टोह नहीं पाता। देख रहा है कि वह बिचारी एक अजीब उलझन में उब-चुब उसका मुँह जोह रही है और चेहरे पर क्या-क्या भाव आ रहे हैं—जा रहे हैं।

हठात् वह कुछ खिंची हुई कुछ दर्द-भरी आवाज़ में बोली।

“हाँ जी, बोलते क्यों नहीं? क्या हो गया है तुम्हें... जाते भी नहीं, इतना कहा तुमसे... देखती हूँ, गर्दन में हाथ देकर बस...”

“बस बस, गर्दन में यह नाज़ुक हाथ तो आए—”
लाला साहब की खीस की हँसी गूँज उठी।

“अजी लौट चलो, कुछ और सुनने को बाक़ी है क्या?”—मुकुल को खोद कर कहा मैंने।

“तो मेरे आने से आपकी मजलिस खड़बड़ हो गई क्या?”—लाला साहब की जलती आँखें इधर मुड़ीं।

“भला साहब, मजलिस कैसी? यहाँ किसी रस की तलाश से थोड़े ही आए हम।”

“तो फिर कहाँ की ऐसी पड़ी हुई थी—”

“पूछिये इनसे—कहाँ की ऐसी है वह! आये थे तीर्थ दर्शन को।”

तभी मुन्नी बाई की वह सहेली बोल उठी—“अभी

तो कह गये कि बहन की खातिर आए तोहफे लेकर····

“अच्छा, तो बहन का नाता गढ़ लिया ? तरकीब तो अच्छी सूझी । साँप भी मरे और लाठी भी न टूटे···· मगर बहनोई के लिए क्या लाए··मेरे हक्क··”

“लीजिये, यह क्या सामने खुंचे में है ।”

“ओहो, रसभरी मिठाइयाँ ! शुक्रिया—बड़ी मेहर-बानी··और यह, यह क्या है ? अच्छा, क्रीप-डीशीन की साड़ी, साड़ी है—भिलमिल बतस-फेनी ! चाहिये भी, बहन के अँगों के उतार-चढ़ाव झलका करेगा इस मीने पट से ।··बस, देखो यह उड़ चली फुर्र ।” और आपने चट उसे उठा कर खिड़की के बाहर फेंक डाला । “हाँ जी, वह बूढ़ी अम्मा जी कहाँ मर रही हैं ? अच्छा ! बीमार हैं ? हाँ-आज तो बीमार होंगी ही··उनके लिए भी कुछ नज़र-वज़र है ?··जरा बुलाओ तो उनको··और तुम ? तुम्हारे चेहरे पर यह बेकली क्या है ? पहले तो क्रदम रखते ही सुशी से उछल कर लिपट जाती रही । आज वह दिल कहाँ है—भाई पर आ गया क्या ?”

बस मुकुल झल्ला कर फट पड़ा—

“लाला साहब, कसूर माफ, आपको तो बस उसकी देह से गरज है न । उसे सजिये, सवारिये, लिये रहिये; वहाँ कोई दखल दे तो उसकी गर्दन मरोड़ दें—मगर उस बिचारी के दिल की तलाशी लेने वाले आप कौन ? उसे

तो छोड़ दीजिये उसी के पल्ले कि वह भी अपने जी की.....”

“ओहो, तो आप आये हैं उसी दिल की लज्जत हूँ देने।”

“मैं कब आया यहाँ और फिर कब आऊँगा इस जंजाल में। जाने आप, जाने वह।” वह तो मेरा चेहरा देखते ही सूख गई। लगी खड़े खड़े दरवाजा दिखाने।”

और, बस मुकुल मेरे कंधे पर हाथ रख बोला—
“चलो भाई लौट चलो, भर पाये।”

“हैं-हैं, चले कहाँ? कुछ हमारी ओर से भी तो मीठे-तीते चखे जाइये। जैसा मुँह होता है, वैसे ही बीड़े मिलते हैं न?” और लाला साहब फर्श से छड़ी उठा कर अपनी ओर से बीड़े चखाने ज्यों इधर मुड़े कि वह बिचारी बेतहाशा लिपट पड़ी उनकी कमर से—“अरे! यह क्या कर रहे हो एक बेकसूर को यों?”

“तुम्हारा क्या?”

“तुम्हारे ही लिए तो...”

“कौन है तुम्हारा वह?”

“कोई नहीं... वैसे तो।”

“सो क्या?”

“भाई ही समझो... छोटा।”

“भूठ, बिल्कुल भूठ। आई हो आँख में धूल मोंकने?”

और वह एक झटके से अपनी कमर छुड़ा, सीढ़ियों में खट-खट उतर चले। मगर, यहाँ तो पिंजरा खुला पाकर परिन्दे उड़ चुके थे। रह गये लाला साहब हाथ मल।

कोई हाथ न आया तो भूत उतार बैठे उस बूढ़े दरवान के सर, जो जाने कहाँ बाजार में भटक पड़ा था दो घूँट अपनी मामूल की तलाश में।

उस बिचारी के सर क्या बीती, जाने वह। उसके अन्दर क्या बीती, जाने अन्तर्यामी। हमें क्या पता हो—बस उससे पूछिये जो ऐसी गई बीती दुनिया को अपनी दुनिया समझ बैठा हो।

रात की गाड़ी से मुकुल लौट पड़ा घर। डेरे पर वापस आकर वह न कुछ खा सका न कहीं जा सका। रह गया खोया-का-खोया। उसे तो एक हूक सी उठती रही कि जाने वह क्यों गया उस रूप की हाट में। साथ-साथ एक तरस की टीस भी रही कि बिचारी दिल पाकर भी लुट गई, अपनी मजबूरियों की वजह—देह को वासना के बाजार का सौदा बनाकर। जवानी के शोले की लौ तो चमकेगी ही, हुस्न के चमन के फूल तो रंग और बू से लहरायेंगे ही, इसलिए वे सज्जावार ठहरे? कोई उन्हें अपनी खुजलाती उँगुलियों से मसलकर तबाह कर देगा?

बस इस जीवन में सब कुछ पाकर भी जीवन का गुर खो बैठी है जैसे। उसे क्या नहीं है—रूप है, यौवन

है, कला है, सब कुछ है। मगर, ये सारी न्यामतें जब उसके काम की नहीं—बस, चन्द बिलासी रईसों के शौक के उपदान ठहरों—तो फिर वे रहीं या न रहीं—दोनों बराबर। जब अपना रंज रंज नहीं, और अपनी खुशी खुशी नहीं तो फिर धन पाया तो क्या, गुन पाया तो क्या, और किसी यारबाशी की महफिल में मान पाया तो क्या !

यह क्या तमाशा है कि चेहरा हँस रहा है, जवान गा रही है, आँखें भूम रहो हैं, पुतलियाँ धिरक रही हैं; मगर जाने क्यों दिल रो रहा है—रो रहा है, तड़प रहा है अपनी बेबसी में निरन्तर।

हम जानते हैं—क्या वकील-मोख्तार, क्या सेठ-साहु-कार, क्या हकीम-डाक्टर और क्या पंडा-पुरोहित—जब वह अपनी दूकान पर बैठता है तब वह और है, और जब घर की पौर पर बैठता है तब और। वहाँ रोज़गार का निगाह है, यहाँ प्यार का। उधर जो खोया, इधर पाया। मगर, कोई क्या कहे, उस बदनसीब की बेबसी की, जिसे दूकान ही दूकान है आठों पहर—घर नहीं; और उस दूकान की आमदनी में अपना कोई हाथ नहीं ! बस, दिल खोल और जान पर खेल, अपनी खाल खींच-खींच बेचते चलो—क्या दर और क्या जर—जाने दूकान-मालिक।

कोई दस दिन बाद बनारस लौटकर आया तो सुना कि लाला साहब की वह मुनिया तो पिंजड़े की तीलियाँ तोड़ किसी सेठ के साथ जाने कहाँ उड़ गई। कहाँ गई—पूरब या पच्छिम, पता नहीं। सेठ साहब का कारोबार कहाँ नहीं—क्या कराची और क्या कलकत्ता। आज आप यहाँ हैं तो कल वहाँ। लाला साहब से, धन और सिन दोनों ही में, वह बीस ही होंगे—उन्नीस नहीं। और लाला साहब की तरह छी-मानुष या शक्की भी नहीं कि उसे अपनी नज़रों के तले नज़रबन्द रखें। किसी से मिलने जुलने या सैर सपाटे के लिए भी कोई वैसी क़ैद नहीं। अब तो मुन्नीबाई की बन आई जरूर, मगर बनारस की वह अपनी दुनिया तो कहाँ नसीब होने की नहीं !

वही हमारा परिचित इक्के वाला, नमक-भिर्च लगाकर, जाने क्या-क्या कह गया अपने रंग में। उसकी

आँखों-देखी तो थी नहीं, जानी-सुनी थी बस। यह भी पता चला कि उस रूप और गुण की दूकान की संचालिका, वह बूढ़ी अम्माजी अपनी बीमारी की वजह मजबूर न होतीं, तो आज बनारस की यह नायाब न्यामत, दाल की मण्डी की रंगीनियों को सूनी कर, कराची या कलकत्ते के बाज़ार में रोशन न होती। वह बिचारी तो हाय कर रह गई। लुट गई बैठे - बिठाये उसकी सजी - सजाई जायदाद।

मुकुल ने सुना तो कहा कि हो-न-हो वह यहाँ की दम-घोंटती हवा से पनाह ढूँढ़ती होगी। उसका शरीर या गला बाज़ार की बिक्री का माल जो रहा हो, उसका दिल अभी उस व्यवसाय में वैसा बसा न था। कम-से-कम अपना अनुमान तो यही है—न सही हमें नारी की नाड़ी की पहचान। अगर जी की फुर्ती भी उसे मिल गई, तो क्या अजब की आज़ादी का पल्ला थाम वह एक नई दिशा—अपने दिल की दुनिया की ओर कदम बढ़ा पाये। अभी तक तो बिचारी को अपनी मंज़िल का पता न था।

और, सच तो यह है कि मुकुल की पहचान कुछ वैसी गलत नहीं निकली जब कोई छः महीने बाद एक दिन बनारस-प्लैटफॉर्म पर मुन्नीबाई की उसी सहेली चुन्नीबाई से भेंट हो गई, जो बचपन से उसके साथ रह आई, और आज जिसने अपनी जीजी की जगह ले रखी है उस मौरुसी दूकान पर। देखा—बनने को तो वह बनी

है अपनी जीजी की उत्तराधिकारिणी, मगर जीजी की बात तो जीजी के साथ ही गई जैसे ।

बस, बातों के सिलसिले में वह नादान खुल पड़ी कि उस मुलाक़ात की रात के चन्द दिन पहले से ही उसकी जीजी अकसर गुम-सुम होकर बैठ जाती—लगती एक चुभन-सी महसूस करने कि कहीं वह भाई मेरा यहाँ आ पड़ा तो फिर कैसे क्या करूँगी—वह क्या सोचेगा यह आज का मेरा रवैया देख कर, और फिर कहीं उसने अपने घर ले चलने की ज़िद्द की तो कैसे उस घर के आँगन में कदम रख पाऊँगी—क्या कहेगा कोई भला !

मैं जब टोक बैठती कि दुत्, तुम्हारा तो कोई भाई नहीं, तुम तो अम्माजी की जाने किस मौसेरी बहन की बस अकेली संतान ठहरी, तो वह फट पड़ती कि तुम क्या जानो, है एक ऐसा भाई; और मैं छेड़ती गई कि आखिर किसी भाई की तलाश ही क्या है आज, तो वह उबल पड़ी कि बाह ! कोई ऐसा चाहनेवाला हो भी तो, जो मेरे ही लिए मुझे चाहे—मेरे रूपरंग और मेरे गले की धुन के लिए नहीं ।

बस, जब लाला साहब अकसर शाम-की-शाम दस दोस्तों को साथ लेकर आते और गाने-बजाने का सिलसिला चलता, उसके गले के करशमें पर बाह-बाही की गूँज होती, करतालियाँ पिटतीं—तो वह सब सोचा और चाहा भूल

जाती, और डूब जाती अपनी तारीफ की चौतरफी बौछार में ।

“तो लाला साहब भी कभी कुछ भाँप पाये थे क्या ?”

“नहीं; उनको शायद पता न था । शक्की तो खैर वे थे ही । मगर हाँ, उनके पलंग की ताबेदारी बजाते इधर जाने कैसी-सी हो जाती रही वह, और अम्माजी के इसरार या इशारे पर किसी बनारसी तोहफे की फरमाइश पेश करते शर्म से झुक जाती रही ।”

“अच्छा ! तो बँधी रक्कम के अलावा नई-नई फरमाइशें भी पेश होती रहीं बराबर ।”

“जी, और क्या । पहले तो फरमाइशों की तामीली में देर होने पर उसे मुँह बनाकर अलग सो रहने या एक ढब से कन्नी कटाते रहने का पार्ट अदा करना पड़ता था, जिसे अगर वह अच्छी तरह अदा न कर पाई तो फिड़कियाँ पाती, उसकी पसन्द की मिठाइयाँ भी थाल से सरका ली जातीं । मगर, इधर तो बगैर सिखाए-पढ़ाए भी लगी थी उस फन में कमाल करने जैसे । हाँ, उस रात वाली घटना के बाद तो लाला साहब भी उससे खिंच चले थे । उस पर क्या बीती सो तो किसी पर खुली नहीं—मुफ पर भी नहीं, जो छुटपन से ही उसके साथ खेलती-खिलती आई बराबर ।”

हमने पूछा कि भला, सेठ साहब कहाँ से चू पड़े उसे हड़प लेने, तो वह बोली कि लाला साहब के साथ ही

आये थे एकाध दिन मुलाकाती की हैसियत से। अब कैसे और कब उसे गाँठ लिया, यह राज तो किसी पर खुला नहीं। लाला साहब के साथ वह यों दशा कर बैठेंगे, ऐसा किसी को अन्देशा न था। हाँ, उन्होंने डोरी डाली उस पर, या वही गाँठ बैठी हो उनको, कोई क्या कहे। हमें तो लगता है कि वही फाँस बैठी हो, चूँकि इधर जीजी चाहती रही और अम्माजी पर शायद खुली भी थी कि बनारस छोड़ बम्बई या कलकत्ता क्यों न चला जाय—वह बड़ी जगह है—बनारस वाली आपस की खींच-तान भी नहीं, लाखों की आमदनी धरी रखी है। मगर, एक जानी-सुनी, बनी-बनाई को छोड़कर किसी अनजान का पल्ला थामना किसी को वैसा जँचा नहीं। कहीं दूर सरक जाने पर तो फिर उस भाई वाली मुश्किल से पनाह मिलती—क्या जाने उसकी चेतना की तह में यही भावना छिपी बैठी हो।

हमने कहा कि कहीं वह सेठ साहब को भी अँगूठा दिखा कर यह पेशा ही न छोड़ बैठे, तो वह ज़रा गर्म होकर बोली—

“दुत, ऐसा भी क्या? वह अपनी आह भूल सकती है, मगर दस के मुँह की वाह नहीं। जान जाय तो जाय, गाना-बजाना उससे नहीं छूट सकता। वही दस की जबान की वाह-वाही तो उसकी नसों में बिजली है—उसकी सारी फुर्ती समझो। अरे, वह जहाँ होगी वहाँ उस

मोह और छोड़

रूप-रंग और गले के कमाल पर मेला लगा होगा ।”

“अच्छा तो गहना-गुरिया सब साथ लिए उड़ गई क्या ?”

“क्या जाने, क्या ले पाई । जानतीं होंगी अम्माजी ।”

“तो तुम भी जाकर अपनी जीजी का साथ क्यों नहीं देती ?”

“हमें कुत्ते ने काट खाया है क्या ? बूढ़ी अम्माजी तो कुछ घड़ी की मेहमान ठहरें । आँखें बन्द होते ही उनकी सारी सँजोई पूँजी तो . . .”

“हाँ-हाँ, वह गद्दी तो तुम्हारी ही होगी न । जीजी तो अब रही नहीं ।”

“क्या बताऊँ, जाने क्या देख अपनी सारी उम्मीदों पर पापी फेर बैठें, नहीं तो आज सोना फलता—सोना । और लोढ़ता कौन ?—अकेली वह । नई हवेली—बेलरों की जोड़ी, क्या-क्या नहीं”

चुन्नीबाई का चेहरा खिल उठा । हमने सोचा कि खूब ! आज चेहरे पर जवानी का निखार न होता तो आरती उतारना तो दूर, किसी की आँखें पूछतीं तक नहीं उसे । न रूप न गुन—मगर हाँ, बला की शोखी—नाज्ज अन्दाज की चाशनी ।

आखर कहाँ मुन्नीबाई और कहाँ यह ! कोई मुकाबला नहीं ।

“उपजहिं एक संग जल माहीं
जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं ।”

मुकुल से अकसर भेंट होती रहती है। बी० ए० की वाटिका का बिरवा तो वह खैर बोधित कर दिया गया; पर एम० ए० की इमारत पर छाने वाला मालती-वितान न बन पाया वह—रह गया पारिवारिक मंमटों के कँटीले झाड़-झंखाड़ में उलझ कर। उसके पिता चल बसे। माँ तो सर पर सुहाग का सिन्दूर लिए खुशी-खुशी पहले ही उठ चुकी थी। एक बड़े भाई थे जरूर—सौतेले। वह लाहौर के किसी मिलिटरी दफ्तर में जाने क्या रहे; वहीं शादी की—वहीं बस गये। जब पिता के श्राद्ध की श्रद्धा भी उनको घर न खींच लाई, तो क्या ऐसी ममता की माया थी जो उन्हें स्वजनों की याद दिलाती।

रह गया मुकुल घर का अकेला। घर का खुशहाल है जरूर, मगर कुछ ऐसा मालामाल नहीं कि हाथ पर हाथ रखे बैठा रहे, और सालों-साल दाल-रोटी चलती रहे।

जमाना था बेटव । साहवों की जी-हुजूरी पर हमारी रोटी रही उन दिनों । और खुशामद के लटके मुकुल ने कभी जाने ही नहीं । आदमी रहा खरा—मस्तमौला भी । वैसे तो बेहद सीधा-सादा । हाथ में पैस रहे तो चखिए घो-दूध का रस, नहीं तो साग-भात पर ही बस ! ऊधो का लेना न माधो का देना । किसी के तलवे सहलाना तो दूर ।

हमारे एक सम्बन्धी रहे गाजीपुर में अफीम महकमे के कोई बड़े अफसर । उनकी एक नज़र हम पर बराबर रही । बस उनके दर पर सर रखा । साहवों के घर फल-फूल की डालियाँ चलीं । मुकुल को एक अच्छी जगह मिल गई । अब वह आ गया शहर में । अपनी घरनी और एक सात साल की बच्चों—बिन्दी । उसी साल गोद का एक छोटा बच्चा क्या उठ गया; उसका जी ही बैठ गया जैसे । वह रह गई हड्डियों की ठठरी—निराशा की गठरी ।

मुकुल से जब भेंट होती तो मुन्नी बाई की चर्चा छिड़ कर रहती । दो साल होने को आये । वह तो कभी बनारस गया नहीं । मगर, हमारे लिए तो साल में एकाध बार विश्ववनाथ का दर्शन अनिवार्य था । बनारस से लौटते गाजीपुर उतर पड़ता—मुकुल से मिलने । और जब आता तब दो दिन की जगह दस दिन जम जाता । उस स्नेह के साये से बिस्तर समेटना आसान न था ।

बिन्दी मुझे चाचा पुकारती; उसकी माँ को मैं भाभी कहता ।

हाँ, जब बनारस से लौट कर आता तो मुकुल की ज़बान पर 'कहो, अच्छे हो न' की ममता उठ आती तो क्या, उसकी नज़र तो जैसे दौड़ कर पूछ बैठती कि 'कहो, उसका कुछ हाल मिला।' और, मैं पहले आँखों की ही सुनता—ज़बान की पीछे ।

“उसका हाल तो कुछ मिला नहीं, अपना तो बस हसब-मामूल है ।”

उस बार जो भेंट हुई तो सवाल पर सवाल आया—

“अच्छा, वह मिली थी इधर.....अरे वही उसकी सहेली—चुन्नीबाई ?”

“नहीं तो । मैंने तो उस गली में कभी भाँका तक नहीं । भेंट कैसे हो ?”

“अच्छा, कल तो तुमसे भेंट होगी ही ।”

“सो कैसे ?”

“वह कल इसी मुहल्ले में आ रही है मेरे एक पड़ोसी के घर । बेटे का तिलक जो है ।”

“ओ-हो ! तो आपही के इशारे पर उसकी तलबी है । इस सूफ की भी एक ही रही ।”

“और महफिल भी इसी दालान में होगी; उनके यहाँ वैसी गुँजाइश नहीं ।”

और वह आ गई । गाना-बजाना जम कर रहा ।

मुकुल को उस गाने में तो कोई दिलचस्पी थी नहीं—बस एक रस्म की तामीली थी जैसे। उसे तो पड़ी थी मुन्नीबाई का पता पाने की।

पता चला कि वह तो उस सेठ के साथ भी नहीं रही, जाने किधर भटक पड़ी। सेठ साहेब तो तब से दो तीन बार बनारस आ चुके। उन्हें भी खबर नहीं कि आज-कल वह किधर रम रही है।

हमने कहा—“तो कोई मिल गया होगा मालदार जवान—सोने में सुगन्ध।”

मुकुल को यह बात बर्छी सी लगी—“और कहीं वह पेशा छोड़ सिर्फ कला को ही लेकर रम गई हो तो?”

“जी नहीं, उससे गाना-बजाना छूट नहीं सकता—बिल्ली और भगतिन?”

“संगीत का शौक रहे, पेशे का तौक नहीं—यह भी तो संभव है।”

“अच्छा कह रहे हो, कहीं शरीफ की बहू-बेटी भी नजरों की बरसाती में बैठ ठुमरी की लरी गूँथ पाती है?”

“अजी गाना तो दूर, वह कमर पर हाथ रख नाचेगी भी ठुमुक-ठुमुक यारों की महफिल में। ज़रा आँख खोल हवा का रुख भी तो देखो। हमें भी अपनी शराफत की नाब पर पाल बदलना होगा। और, उस कला के साथ रोज़गार की बू भी रही, तो हर्ज ही क्या? उसके दामन पर तो छींटे आते नहीं।”

“तो फिर कला का पल्ला थामे व्यभिचार न आया तो मेरा नाम बदल देना।”

“आये, देखा जायगा। कोई गिरता है तो गिर कर डूब ही नहीं जाता, वह दामन भाड़कर उठ भी सकता है बराबर।”

“तुम तो बस अपना ही ओटे जाओगे। जाने क्या-क्या सपने पाल रहे हो ? भला वेश्या की समस्या भी कहीं सुलभ पाई है—बस एक पल किसी बेकस की आह की टोह पाकर ? आखिर ट्रेन में चलते-फिरते उसे जाने कितने आफत के मारे मिले होंगे अकसर—कुछ तुम्हीं अकेला नहीं मिले एक दिन। और-लो, बस वह ऐसी संजीवनी बूटी पा गई.....”

“सुनो भाई, हम आदमी के अन्दर उँची संभावनाओं के कायल हैं—वह नावदान का कीड़ा ही क्यों न हो आज। अजी वेश्या के कलेवर में भी दिल है और उस दिल में भी दर्द। हाँ, वह वृत्ति दबी हुई जो हो, कुछ बुझी हुई नहीं। मैं मानता हूँ कि जिस हवा-पानी में पल रही है, उसमें वह वृत्ति पनप नहीं पाती ; मगर कहीं किसी ओर से रस की फुहार की दो बूँदे पा गई, तो फिर वह सिकुड़ी-सिमटी भी अङ्कुर देकर रहेगी। और, यों जब फूट कर वह चेतना की सतह पर आ गई, फिर तो प्रतिकूल वायु-मंडल के बावजूद भी वह आप लगती है पल्लवित होने और विरोधी वृत्तियों से लोहा लेने। बस, वही द्वन्द्व का

दौर तो उसकी नई जिन्दगी का पहला कदम है जैसे । आज उसके अन्दर का देव, अपने यहाँ दानव की चौतरफ़ी हुकूमत के चलते जो दुबका पड़ा हो ; मगर कहीं किसी अनजान दिशा से भी कोई बिजली आकर उसे अपनी सत्ता का पता दे गई, तो वह मरियल भी ताल ठोंक कर उठ ही खड़ा होगा । वह बराबर हारता ही रहे, उससे क्या—कभी तो जीत होगी । "..... तुम क्या समझते हो कि यहाँ अँगरेजी सत्ता सनातन होकर आई है ? आज तो वह ऊँस है कि हम साँस भी नहीं ले पाते । कोई स्पन्दन नहीं—कोई सुनगुन नहीं, अपने अन्दर की सत्ता का पता तक भूल बैठे हैं, मगर जहाँ एक पत्ता खरका कि हम पता पा गए—देख लेना ।"

सुबह उठकर देखा कि वह बच्ची बिन्दी, हारमोनियम की पटरी पर उँगली रख, रात का एक भजन गुनगुनाये जा रही है अपनी तुतली ज़बान में । मुकुल की नज़र पड़ी तो छेड़ बैठा—

“देखा, अभी से गाने की रुझान है इसमें ।”

“तो बुरा क्या, ले, ज़रा गला खोल गाती क्यों नहीं ?”

बिन्दी शरमा गई । अपने जी से गा लेना और है, किसी को फरमाइश पर गाना और ।

मुकुल उबल पड़ा—“अच्छा ले आने दे अपनी बूआ को—वही सिखायेगी गाना तुम्हें एक दिन ।”

भाभी के कान खड़े थे, टोक बैठी—“तुम तो जाने कब से कह रहे हो। कहाँ आई वह ?”

“अरे अभी गये ही कितने दिन—आयेगी न।”

पता नहीं, मुकुल ने कैसे क्या कह रखा है अपनी स्त्री से। हमने अपनी ओर से कोई चुनाचुनी करना मुनासिब नहीं समझा। मगर मुकुल के कान में तो झुककर कह ही बैठा—

“तो तुम उठे ही आसमान से चांद उतारने—भावना की परी को साकार बनाने ?”

“जो कहो, अपना विश्वास तो अटूट है कि मेरे दिल की कशिश उसे छूकर रहेगी—खींच लायेगी भाई के घर, जैसे हो—कहीं भी हो वह, कलकत्ता या कराची। और …और मैं दिल की आँखों से देख रहा हूँ … बिचारी कितने गहरे पानी में है। अभी मोह हावी है छोड़ पर … मगर कबतक मोह के मोहरे तो लाल होने से रहे … जीत धरी है स्नेह की, देख लेना …”

मैंने दिल में कहा कि खूब ! रस्सी जल गई, पर ऐंठन न गई। यह ऊँट की पकड़ भी एक ही रही। विश्वास हो तो ऐसा हो। जाने क्या अपरूप पा गया है मुकुल—बाज़ार की उस लौंडिया के रूप में, कि जमाने का रंगरूप देखकर भी वह उस स्वप्निल स्वरूप के संधान से तिल भर भी हिल नहीं पाता।

आखिर यह सपना पालने से फायदा ? यह खोज

मौह और छोह

क्या है—बस एक कोरी कल्पना, एक निरी जल्पना, और क्या ?

तो क्या मन जब कल्पनाओं की तरंग में डूब लेता है तब कुछ न कुछ ढूँढ़ कर ही वो दम लेता है ?

भगवाम भी तो एक भ्रम ही है—एक भावना मात्र । उसकी खोज कभी पूरी हुई है या होगी ? वह भी एक स्वप्न का ही अनुशीलन है न आखिर ?

मगर यह खोज न रही तो आदमी भी आदमी न रहा । वह इस दुनिया के सुख-दुख के द्वन्द्व को पल भर न तो भूल सकेगा, न अपने बनाए भय से आपको छुड़ा पाएगा । जब बच्चा रोता है तो उसे बहलाने को मुनमुना देते हैं, और जब अपने आपको न ढूँढ़ कर दुनिया में भटकता हुआ सयाना रोता है तब उसे देते हैं किसी आसमानी सहारे का खिलौना ।

बस, बनी रहे यह खोज, जीवित रहे यह स्वप्न । कभी तो रूप लेकर वह आयेगा ही अपने चिन्तन के अन-रूप । जिस स्वप्न, जिस खोज की लगन ने उस अगम अर्चित्य अरूप तक को जाने क्या क्या रूप दे दिया, वह एक मानसी को देवी का रूप न दे पायगा क्या ?

भाभी का खत मिला कि मुकुल ने याद किया है—क्या जाने, क्या है। वह तो कभी कुछ लिखता नहीं। यह नहीं कि उसे मेरी तलाश नहीं, मगर वह स्नेह का संचार तो आँखों पर ही जगमगा कर रहता है—किसी दिखावे का क्रायल नहीं।

लखनऊ से लौटते गाजीपुर उतर पड़ा। भादों का महीना। बरसाती समौ। आसमान पर छाए बादल। बूँदों की रिमरिम। पुरवैया पर पछैया का जोर।

रात का सन्नाटा है। हम बरामदे में बैठे कुछ खा-पी रहे हैं। मुकुल कुछ खोया-सा सर झुकाए सोच रहा है। हठात् चिहुँक कर बोला—“जानते हो भैया, उसे मैंने देखा है इधर—पहली बार।”

‘उसे’ का इशारा कोई और समझे या न समझे, हमसे तो पर्दा रहा नहीं।

“अच्छा ! कब ?”

मोह और छोट

“कहती रही कि हम तो तुम्हें जाने कब से ढूँढ़ रही थी। लो, अब आ गई तुम्हें भजन सुनाने—और ज्यों उठी सितार का तार बाँध जाने क्या सुनाने, कि यह बिन्दी पास के पलंग से अपनी माँ को पुकार बैठी, और बस खुल गई आँखें—टूट गया सपना।”

“मगर भोर का सपना तो सच होकर रहेगा।”

“जो हो, इधर तो जाने क्यों रह-रह कर लगता है कि वह अब आई, तब आई।”

“उसी सपने को असर है, और क्या ? तुम हो भी तो ज़रा जमाने से निराले।”

मुकुल चुप हो रहा, बोला नहीं। दो-चार दिन के लिए हमें आरा जाना पड़ा। एक ऐसा जरूरी तार आ गया घर से। लौट कर आया तो देखा, मुकुल का रवैया ज्यों-का-त्यों है। उसका चेहरा बुझा-बुझा और बदन का जोड़ थका-थका-सा दिख रहा है जैसे।

शाम का वक्त है। क्लब जाने की तैयारी। मगर आज क्या है कि मुकुल जा नहीं रहा है। सायबान में बैठा है गुम-सुम—सामने आसमान पर अलबेले बादलों की दौड़ देख रहा है जैसे।

“तो क्लब नहीं चलते क्या ?”

मुकुल ने जैसे सुना ही नहीं। अपनी कुर्सी खींचकर पास आ बैठा।

“उस दिन तुमसे उस सपने की बात कही, याद है न ?”

“हाँ-हाँ, वह भोरवाला सपना ।”

“कहीं भेंट होती तो मैं पूछता कि यों सपनों में ही भाई के घर आने का वादा था तुम्हारा ? क्या वादा है—क्या बफा ! जाने कितने दिन गुजर चले—तुम आती हो न चैन आती है ।”

मैं चौंक पड़ा । आज यह तमाशा क्या है ? कभी तो ऐसा विकल नहीं लगा वह । बनारस से लौटा तब ज़रा-सी चर्चा छिड़ी—बस । फिर कोई जिक्र नहीं । आज यह क्या सौदा है सर पर—एक नया रवैया ।

“अच्छा तो मुकुल, माफ करना, तुम उसे चाहने भी लगे हो क्या ?”

“क्या कहा ?” मुकुल की आँखें टंग गईं । चेहरा दमक उठा जैसे—“तुम्हारा क्या मतलब ।”

उसका तेवर ही देखकर सहम गया मैं—कुछ कहा नहीं ।

“देखो भाई, तुम्हें अपना भाई ही समझा है बराबर—अपने भाई से भी बढ़कर । इसी बात पर मेरे बड़े भाई भी खीम उठे थे—उनको अच्छा न लगा मेरा-तुम्हारा यह भाव—जाने कहाँ चल दिए, सो लौटे नहीं । लाला भी मुझे क्या-क्या कहा करते कि मुकुल बड़ा घुन्ना है, एकबग्गा—जिधर मुड़ गया, उधर ढल गया आँखें मूँद खैर, जाने

मोह और छोड़

दो... मेरी निगाह में तो वह जो है सो है, और तुम जो हो सो हो—वह बहन, तुम भाई। मगर, तुम भी मुझे गलत समझ बैठे—तुमसे यह उम्मीद न थी—”

“माफ करना भाई—भाई से भी भूल हो जाती है कभी-कभी। आखिर *To err is human.*”

“देखो न—जब तुम्हें भाई मान लिया, मान लिया—घर का कोई खुश हो या रंज। उसे भी जब बहन मान लिया, मान लिया—जमाना माने या न माने।... मगर तुम्हीं कहो, पहले भी कभी उसकी बात छेड़ी तुम्हारे सामने। तुम बनारस से आ पड़े—पूछ लिया कि कोई हाल मिला, बस। उसकी याद जो बनी रही—जैसे भी हो। उस दिन सपने में उसे देखा—एक टीस-सी महसूस की—तुम पर खुल पड़े। कल रात चार का वक्त होगा—हाँ, चार ही—उसका गला सुन पाया जैसे... गला, हाँ... साफ़—एकाध ही मिनट सही।”

“दुत् ! सपने में होंगे।”

“ना भाई, वह सपना नहीं था। जाने कहाँ से वह आवाज़ हवा पर थिरकती आई—धीम-धीमी, दर्द से भरी, आह से उभरी। वही लोच, वही लय—और मैं बिस्तर से चौंक पड़ा। कमरे से निकल कर उस ओर सायबान में जो आया तो कहीं कुछ नहीं। जाने किधर से आई—क्या थी?”

“बस तुम्हारे दिमाग की उपज रही, और क्या।”

हम कैसे मान लें कि वह यहाँ है, और नहीं भी—सुना है न—

“ज़ाहिर में कहीं रहते हैं, बातिन में कहीं हैं,

यह बात उन्हीं में है कि हैं, और नहीं हैं।”

“क्या जाने, हमें तो कुछ वैसी ही-सी सुन पड़ी।”

“ऐसी धुन रही तो फिर हवा की सर्राहट, बूँदों की रिमझिम में भी वह स्वर सुनाई देगा।”

मुकुल चुप बैठा रहा। खोया-सा—जाने क्या सोचता रहा।

तभी दाईं ओर के कमरे में बिन्दी के गाने की आवाज़ आई।

मैंने कहा कि लो भई, यह तो मजे में गा लेती है इसी सिन में—माँ से भी नम्बर ले गई वह।

“अरे तुम जानते नहीं, यहाँ से थोड़ी दूर जाने किस मन्दिर में कोई संन्यासिनी हैं बूढ़ी, जिनके यहाँ अकसर जाने कहाँ-कहाँ से भगतिन आती रहती हैं—गाने-बजाने का सिलसिला चलता रहता है। बस, औरतें जाती हैं वहाँ भजन सुनाती हैं—गाती हैं, कीर्तन भी करती हैं। मुहल्ले की टोली के साथ तुम्हारी भाभी जी जाती है अकसर, और बिन्दी भी।” “एकाध रात तो क्लब से लौटा तो पाया कि घर पर कोई नहीं।”

तभी भाभी किवाड़ के पल्ले थाम सामने आई, बोलीं—

“जानते हो न, कल भगवान का जनम-दिन है। कल यहीं फूलडोल रखने का प्रोग्राम है—मुहल्ले की औरतें जो सिर हैं।”

“यहाँ क्या रखा है”, मुकुल टोक बैठा।

“दालान जो तुम्हारा वैसा लम्बा-चौड़ा है भूल गये—हमारे पड़ोसी लालू के तिलक की महफिल भी इसी दालान में हुई। तुम भी.....”

“तो रहे—जैसी मर्जी। मगर आधी रात तक तुम्हारी मजलिस रहेगी क्या? फिर हमारा गुजर कैसे.....”

“तुम दस बजे से पहले तो कभी क्लब से लौटते नहीं—तब तक हमारा भजन पूजन मजे में निभ जायगा—सभी चल देंगी, फिर जो जी चाहे तुमलोग अपना करना।.....हाँ जी, माताजी भी कल आयेंगी अपनी मंडली के साथ। भजन और कीर्तन तो बस बेजोड़ है उनका—कितनी नई भी आती हैं जाने कहाँ-कहाँ से... एकाध तो क्या बताऊँ, तुम सुन पाते तो जानते।”

“अच्छा, तो यह माताजी तो वही बूढ़ी संन्यासिनी हैं न?”

“हाँ-हाँ, वही। वह न होती तो आज घर-घर पर्दे के अन्दर यह लहर होती? कहाँ हमारी टोली पापड़

बेलती या चूल्हा फूँकती सूरज डूबते—कहाँ लगी है सुर-अलापने, भजन गाने ।”

क्लब में आज कोई रंग जमा नहीं—जन्माष्टमी का त्योहार जो है । कहाँ आधी रात तक चौसर और शतरंज की धूम रहती—कहाँ आठ ही बजे सन्नाटा छा गया जैसे । जो आठ दस मुस्लिम दोस्त आये भी थे, वे देर तक ठहरे नहीं । मुकुल तो कोई वैसा शौकीन नहीं—एकाध बाजी शतरंज खेल लेता बस । अधिकतर तो वह दो चार दोस्तों को साथ लेकर दर्शन की छान-चीन करता, कभी गीता की व्याख्या छिड़ती, कभी तसव्वुफ का चर्चा । राम और रहीम हमारे यहाँ दो आँखें जो रहे हों, पर दो नजर कभी नहीं । दैर और हरम तो अनजानों के लिए एक-दूसरे से जितने ही दूर हैं, जानकारों के लिए एक-दूसरे से उतने ही अभिन्न । और, हमारे यहाँ जानकार भी थे और अनजान भी, मगर आज जैसे नादान नहीं कि भाई-भाई की जान के प्यासे बन बैठें ।

आज कितने हैं जो राम और रहीम की भूल-भूलैया से निकल पाते हैं ? जो भी आया, वह ऐसा उलझा कि मुँह की खाकर रहा । मगर हाँ, उन दिनों लीडरी और नामवरी की तलाश उन्हें अपनी राजनीति के बिसात के मोहरे न बना पाई थी कि जी मचल पड़े कि मारो गोली ऐसे राम और रहीम को ।

तो बस नौ बजते चल पड़े हम । गली की मोड़ पर

किसी के मीठे गले का लहरा हवा पर थिरकता हुआ कानों पर टूट पड़ा और बस सिर से पैर तक चौक पड़ा मुकुल—“है ! यह तो वही गला है, है न ?”

एक पल ठमका । सिहर उठा उसका रोआँ-रोआँ, भर आया मन, तर हो गई आँखें । और बस, दौड़ चला उस आवाज के अन्दाज पर । मगर, सुध-बुध खो ऐसा डूब गया कि भोंक में बढ़ता गया अपने मकान के आगे भी । हमने पुकार कर उसकी भूल जता दी । वह लौट पड़ा घर की पौर पर ।

देखा, दालान के पल्ले लगे हैं तो क्या, सायबान में इर्द-गिर्द जाने कितने जाने-पहिचाने खड़े-खड़े भूम रहे हैं—उस रसीले गले की हिलोर पर ।

“श्याम तन, श्याम मन, श्याम ही हमारी धन
आठो याम ऊधो हमें श्याम ही से काम है
श्याम गति, श्याम मति, श्याम ही हैं प्राणपति
श्याम अभिराम राम रोम-रोम श्याम हैं ।”

मुकुल जो इतमिनान नहीं—किवाड़ सरका कर देखा और बस देखता रह गया । जिसे ढूँढ़ने की उसकी आँखें जाने कब से तरस रही थीं वह तलाश की मंजिल आज मिल गई ।

हाँ, वही गा रही है—वही मुन्नी, मगर अब वह वही नहीं है आज—कोई और ही है उसी शक्त में जैसे । कोई रंगढग, कोई सजधज नहीं—बस सादगी की

सौम्य मूरत । सुफेद साड़ी, सुफेद चादर । तीन चार और भी उसी वेश में बैठी साथ दे रही हैं । किसी के हाथ ढोलकी है, किसी के हाथ इसराज, किसी के और कुछ । और, वहीं आसनी पर बैठी वह बूढ़ी संन्यासिनी आँखें मूँद चुप पिये जा रही हैं उस रस के पियूष को ।

और हाँ, वही गला है, वही कला भी । फिर भी यह क्या वही गला है—वही कला ? जो गाना कल तक बाज़ार का सौदा-पेशा रहा, वह अब सबकी संवा हो गया है सरासर—उदार, निर्मल, पुनीत । और पहले तो कला उसके कंठ ही तक थी बस ! आज उसके जीवन में भी उतर गई वह । आखिर, यज्ञमय जीवन-ही तो कला का केन्द्र ठहरा । अब जाने कितने रस के उत्स फूट पड़ेंगे—नित नये ।

और हम दाँतों तले उँगुलियाँ दिये चुप खड़े हैं कि यह क्या साधना, क्या करश्मा है कि कहाँ से कहाँ उठ आई वह—उसकी चेतना, उसकी प्रेरणा की किस अतल तह से फूट निकली क्रान्ति की यह नई धारा जो उसे कहाँ से कहाँ बहा ले आई—अपने अतीत की तमाम जानी-सुनी-देखी की यों धज्जियाँ उड़ा कर बेलौस । ऐसे आदर्श की चोटी पर यह दिव्य अभियान तो एक चमत्कार है—चमत्कार !

गाना रुका । मुकुल धड़-फड़ किवाड़ के पल्ले खोल भीतर घुस पड़ा ।

“हाँ तो आ गई बहन तुम—बड़े इन्तज़ार पर आई ।

अब तो तुम भाई के घर से जाती नहीं—”

और वहीं फर्श पर चित लेटी बिन्दी को खुदक कर कहा—“ले, उठ-उठ, आ गई तेरी बूआ—कहा था न...”

और क्या भाई, क्या बहन—दोनों के चेहरे पर जाने कितनी लहरें पल-पल में उठ-उठ कर विलीन हो रही हैं। दिल में खुशियों की ऐसी रस-धार उमड़ आयी है कि उसकी मिठास से होंठ हो गए हैं लटपट। न कोई बोल रहा है—न कोई डोल रहा है—एक सकते का आलम है जैसे। तो क्या.....

“जब तक मिले न थे, न मिलने का था मलाल

अब यह मलाल है कि तमन्ना निकल गई।”

×

×

×

×

और बस, आधी रात होने को आई। टहटही चाँदनी की मीठी चारुता भी लगी सिहरी देने जैसे। हवा की अँगड़ाइयों में खुनकियाँ भर गईं। चमन से रात-रानी की लपटें लगीं मधु के पैमाने छलकाने। और, मास्टर साहब, सर पर टोपी और हाथ में छड़ी सहेज, उठते हुए बोले—“तो भाई, किसी जाने-सुने जवान के प्रेम में पड़ कर तो कितनी नारियाँ—क्या कुमारी, क्या पत्नी और क्या वेश्या—अपने सारे अतीत और वर्तमान को ठुकरा-कर बागी का खिताब पा गईं दुनिया बसा बैठों, कुछ ठिकाना नहीं। मगर आंखें चार होते ही एक अनजान को भाई मान और उसके स्नेह में खिंच कर ऐसी काया-

पलट की बुलन्दी तो एक पहेली है—पहेली !

मैंने कहा कि एक पहेली तो मैं भी नज़र कर सकता हूँ—अपने ढंग की अनूठी, और वह भी आज की नई रोशनी की नारी की निराली बानगी, जो दिखती है कुछ, रहती है कुछ—मगर देर जो हो गई.....रात के साथ-साथ रोटी भी लगी ठण्ढी होने—

—कि चट मास्टर साहब वहीं कर्श पर टोपी और छड़ी फेंक बैठते हुए बोले—जी नहीं, बग़ैर मजे चखे तो हम जाने से रहे । दाल-रोटी तो रोज़ मिलेगी, मगर यह रस की चाशनी तो नसीब होने की नहीं ।

रूप और स्वरूप

नाक-भौं सिकोड़ने वाले होटल को एक मीठा ज़हर—
 एक हँसता ठग लाख करार दें, पर आज उसकी मिठास
 और मुस्कान के कायल कुछ कोट-पैट ही नहीं हैं, धोती
 भी बराबर है और गांधी-टोपी भी । कहाँ नहीं है उसका
 दौरदौरा—क्या ज़मीन और क्या आसमान ! पहाड़ों की
 बर्फीली चोटियों पर होटलों की सरगर्मी न होती, तो
 पहाड़ की सैर की मस्ती दो दिन में ठंडी पड़ जाती ।

गर्मियों में जो मसूरी आकर बँगले लेकर रहते हैं,
 उन्हें मसूरी की सर्दी की खबर चाहे जो हो, वहाँ की
 नशीली सरगर्मी का उन्हें पता नहीं । और, वह मदमस्ती
 तो होटलों की चहारदीवारी के अन्दर ही मयस्सर है—
 बाहर नहीं । यह वहाँ के चकल्लस की चाशनी—चहल-
 पहल की चाँदनी है कि मसूरी की तूती बोलती है
 निरन्तर ।

गर्मी आई नहीं कि कहीं मीठी-सी सर्दी की तलाश के

हीले उस मस्तानी गर्मी की लौ पर लोग खिंचे आते हैं यहाँ सर पर पाँव रखे। जभी तो जो जानकार हैं वे महीनों पहले से ही नामी-गरामी होटलों के लिए ही कम्पे लगाते हैं, बँगलों के लिए नहीं !

मगर अपना-अपना भाग, अपना-अपना भोग। मुझे किसी वैसे होटल में जगह न मिली। कमरे सब कभी के उठ चुके थे। जहाँ सर मारा, वहीं सर थाम कर रह गया। करता क्या, एक मित्र के घर ढह पड़ा।

मसूरी की सर्दी तो मिली, वहाँ की गर्मी नहीं मिली। मीलों टहला किये, पर जी नहीं बहला। दिल की तो बनी नहीं, तन्दुरुस्ती चाहे जो बनी हो !

उस दिन किताब-घर के पास रमेश से आँखें चार हो गईं। वह भी मेरी तरह मसूरी में रह कर भी मसूरी की मोहिनी से महरुम था बिचारा। उसे भी किसी एक ऐसे साथी की तलाश थी कि घड़ी-दो-घड़ी रंग आए !

“हाँ भई, चलो किसी होटल में डिनर रहे आज। सनीचर की रात है—डिनर और डांस—दोनों का लुत्फ लें। है न ?”

और बस, बात बन गई।

किसी नामी-गरामी होटल में सनीचर की रात का डिनर एक जशन है सरासर। भोजन तो उपलक्ष्य ठहरा, लक्ष्य है व्यसन—दस का मिलन। वैसे तो खाने का लुत्फ रसना के रस-सिंचन में है; मगर ज़बान के साथ-साथ

आँखें भी तर हों और कान भी पुलकित, तो फिर लीजिए, पाँचों उँगलियाँ घी में रहें। जहाँ रूप, गन्ध, स्वर और स्पर्श का सरंजाम है, वहाँ भोजन वैसा रसीला रहा न रहा—दोनों बराबर। न सही केसर का पुट, न सही घी और मलाई की चिकनाई—दो फाँक उवाले हुए आलू और शलजम भी बिलायती 'सॉस' का वरदान पाकर वैसे रसलीन वायुमण्डल में किस षटरस भोजन से उन्नीस होंगे। जी रोम्मा और रुचि रीम्मी। अगर पेट अधभरा भी रहा, तो रसना रस-भरी रही। कान भी रोम्मे, आँखें भी अघाईं।

यहाँ डाइनिंग हॉल में कदम रखा कि आपका रंग ही दूसरा हो गया। यों कहिये, चेहरे का रंग उभर आया—'कोई जैसे पीकर शराब आ गया !'

बेखाए भी यहाँ भूख का शमन है—बे-पिए भी नशे का आलम। वैसे तो आये भी हैं हम यहाँ खाने ही पीने, मगर इस रस के फव्वारे में शराबोर कोई क्या खाए और क्या पीए ? यहाँ तो खानी हैं पल-पल पर दिल की ठोक़ें, पीनी हैं पग-पग पर रस की फुहारें।

पैमाने का तो वह दौर है कि कोई कितना पीए और क्या-क्या पीए ! जहाँ आँखों ही से रसमस्ती छलकती है, वहाँ सुराही की अँगूरी तो बस—एक रस्म की तामीली ठहरी।

जब आँखें गड़ा-गड़ा कर पीने का दौर आम है, तो होठ डुबोकर कोई क्यों पीए—क्या पीए ?

डिनर की घंटी बज रही है। लोग बन-ठन कर पिले पड़ते हैं। गोरों के इर्दगिर्द काले भी आ रहे हैं गोरों के लिबास में। विलायती पाउडर और क्रीम के करश्मे ने रंग से रंग तक मिला दिया, मगर चेहरे की चेष्टा तो दूर, हर डग की अदा ही पुकार रही है कि कौन क्या है !

हमारे हिन्दुस्तानी साहब तो खैर जैसे भी हों, हमारी महिलाएँ तो गाउनों के भँवर में नहीं आईं—लहरी साड़ियों के पल्ले उड़ाए अपनी एक अलग आन निभाए जा रही हैं बराबर।

“यह लो, मिसेज़ राय भी तशरीफ़ लाईं !”—रमेश ने कान में झुक कर कहा।

“मिसेज़ राय कौन ?”—मैंने अकचका कर पूछा।

“जैसे कि आप जानते ही नहीं ! वह क्या डिनर के लिए लैस चली आ रही हैं।”

“अरे, यह तो कोई विलायती हवा पानी की...”

“अजी मीरा है—मीरा ! वही तुम्हारी पड़ोसवाली—भूल गये ? और यह लो, मिस्टर राय भी साथ हैं !”

मिस्टर राय को मैंने पहचाना। विलायती बज्जेदारी के तो वे जाने कब से हिमायती रह आए हैं ; विलायत जाकर तो वह तन पर ही नहीं, मन पर भी छा गई।

रूप और स्वरूप

ऊँचे पद की प्रभुता ने तो उस फैशन में चार चाँद लगा दिए।

हाँ, मिसेज़ राय को पहचानना कुछ बायें हाथ का खेल न था। और, पहचानता भी कैसे? मिस मीरा ही मेरी परिचित थी—मिसेज़ राय नहीं!

मीरा की शादी हुए कोई तीन साल होने को आए। इसी बीच जाने कितना गंगा का पानी पुल के तल से जा चुका। तीन साल पहले वह क्या थी, आज वह क्या है—कहाँ है! वह सुशील सलज्ज चेष्टा आज खुल-खिली भंगी में बदल गई है। चेहरे पर पाउडर की सफ़ेदी और होठों पर लिपस्टिक की गुलाबी तो खैर, इस युग के शृंगार की परिपाटी ही ठहरी, मगर यह गालों पर गुलाली और दोनों भवों के बितान पर काजली नक्काशी देकर वह अपने को अपनी आँखों में आज क्या पाती है—पता नहीं!

मगर किसी को अपना पता ढूँढ़ने की फुरसत भी हो!

ये दुनिया की आँखों में अपनी रंगीनी की याद ढूँढ़ने वाली आँखें कहीं भूल कर भी अपने हृदय की दरिअियों के भीतर आँक बैठी, तो फिर हो-न-हो, शर्म से पलकें मूँद लेनी होंगी। निवृत्ति चाहे न भी हो, प्रवृत्ति को एक ठेस तो लग कर रहेगी।

तभी शायद उसे पता भी चलता कि दुनिया की आँखों में उगने के बदले वह डिग रही है। उसकी रंगीनी

जानी-सुनी-देखो

की आँच पर कोई लाख आँखें सेंक ले, पर उसे दिल के पहलू में उतार कर सँजोने को कोई वैसा तैयार नहीं ।

जो अपने को न देख कर दुनिया को ही देखता रह गया, उसकी खुली आँखें भी क्या वैसी खुली हैं ? और जो आँखें खोल कर भी अपनी नाक के आगे देख नहीं पाता, उसकी आँख उसे जवानी के दिन चौतरफ़ी चाँदनी जो दिखाएँ, एक दिन उसे दिन में तारे दिखा कर ही दम लेगी ।

वाह री मीरा ! अगर तन पर क्रेप की मयूरपंखी साड़ी न होती तो यह रंग ढंग और हाव-भाव देखकर कौन तुझे समुन्दर के इस पार का समझता ! चेहरें पर पाउडर और क्रीम की गुलकारी तो राजब ढा रही है—आँखों में धसो जाती है जैसे । ऐसी मस्तानी अँगड़ाइयाँ तो हमारी धरती के हवा-पानी में पनप नहीं पातीं ।

आज की सभ्यता इस शरीर को न वैसा प्रश्रय देती, न उसकी फ़रमाइशें आसमान चूमतीं । जभी तो हम इस जीवन के विनिमय में उसी को अपना रहे हैं आज ! यह स्थूल शरीर ही सर्वस्व है सरासर । उसका नाज़ उठाने में ही हमारे अन्तर की तमाम वृत्तियाँ आठो पहर खट रही हैं । बस, सूक्ष्म तो स्थूल का ताबेदार है आज । एक दिन यह देह उस सूक्ष्म मंत्र को सुगम करने के लिए सुमिरनी बन कर मिली थी, आज वह सुमिरनी खुद ही उस

रूप और स्वरूप

मंत्र पर हावी हो रही है जैसे। उसी की मर्जी हमारी मर्जी हो गई।

एक दिन शायद संन्यास की धाँधली में पड़ कर हमने उसके जायज हक को भी इनकार कर दिया था—यह उसी की प्रतिक्रिया है क्या—प्रकृति का प्रतिशोध ? जिस आग को हम बुझी समझ बैठे थे, वह आखिर दबी हुई निकली। हवा पलटने की देर थी। फिर तो ऊपर को राख उड़ गई और अन्दर की आग जाग पड़ी।

आज हमारी नई रोशनी की दीवानी महिलाओं का फैशन तो विलायती कम्पनियों का विज्ञापन है जैसे। क्या अशन, क्या बसन, क्या भूषण और क्या प्रसाधन ! एक दिन हमने उनके चेहरे पर क्रूरत की कारीगरी देखी थी, आज हम उस पर क्रीम और पॉलिश की मीनाकारी देखते हैं। जिन गालों पर कभी लज्जा की लाली का जमाल देखा था, उन पर विलायती रंगसाज्जी का कमाल देखते हैं। रंग ही नहीं, ढंग भी विदेशी। लज्जा तो लुप्त हो चली, तृष्णा दीप्त। आज उनमें आत्मचेतना क्या आई, अपनी संस्कृति की अवहेलना आई जैसे।

मुझ पर तो एक सक्ते का आलम है। यही मीरा तीन साल पहले कितनी काँपती-झिपती रही ! तब इन नयनों की निधि ह्या थी—अदा नहीं। चेहरे की चारुता कैसी एक मीठी सी करुणा में पगी थी—किसी तृष्णा में नहीं। किताबों का बंडल हाथ में लिये, सर झुकाए, कॉलेज

जानी-सुनी-देखो

जाती। कहीं मुझ पर आँखें पड़ गईं, तो सर झुका कर एक नीरव नमस्कार जता देती।

हाय रे ज़माने का उलटफेर ! उसदिन उसे क्या देखा था, आज उसे क्या देख रहा हूँ ! क्या जाने अभी और क्या-क्या देखना है ! आज तो उसकी अदाओं की शोखी जैसे कह रही है कि अभी क्या देखा है—आगे देखना।

मि०राय सामने आ पड़े। आँखें चार हुईं। मैं तो ज़रा सहमा, मगर उधर के 'हल्लो' के हिल्लोल पर सचेत हो गया। जन्नाटे से हाथ मिले। फर्राटे की अंग्रेजी चली।

“ज़माने पर मिले हो भाई ! कहो, अच्छे हो न ?...”

“यह आपकी मीरा हैं। भूले तो न होंगे !”

मिसेज राम की आँखों में शर्म की एक पतली-सी रेखा भाँक कर जाने कहाँ गुम हो गई। उसने चट हाथ बढ़ा दिया।

मैं तो दंग रहा। यह निःशङ्क अंग्रेजी ढंग से हाथ मिलाना ! बड़ों का लिहाज नहीं ! कहाँ पहले की तरह हाथ जोड़ ललाट तक ले जाती, कहाँ तपाक से हाथ मिला बैठी ! हाँ, सनातनी पिता के पल्ले से छूट विलायती पति के साये में जो आ गई ! जब आँखें भी स्वच्छन्द मिलती हैं, तो फिर हाथ मिलाने में क्या रखा है आखिर !

अच्छी बात है ! हमने भी मेमसाहबा के नहले पर दहला न दिया तो बात क्या।

रूप और स्वरूप

बस, छेड़ ही तो दिया—“आप तो पहचान में भी नहीं आतीं आज !”

आज यह पहली बार है कि मैंने ‘तुम’ की जगह ‘आप’ का प्रयोग किया। कैसे ‘तुम’ करता ! अब क्या वही मीरा रही आज ? जाने कहाँ दूर सरक गई—कितनी ऊँची उठ गई ! देखा न, किस धड़ल्ले से हाथ मिला बैठी ! दो दिन होटल की हवा बया खाई, लगी हवा पर उड़ने !

“यह खूब ! आखिर क्या ऐसी...”—वह एक अदा से शर्मा कर बोली।

मैंने भी देखा कि जब उसी को अतीत से इनकार ठहरा, तो मुझे क्या पड़ी है जो उस चिता की राख को कुरेदता रहूँ ! जिस रंग में आइए, भरपूर आइए !

“क्या बताऊँ, नज़र जो नहीं ठहरती !”

“जी, मैं तो बदली नहीं, बदली होगी आपकी नज़र !”

“यह लो ! नज़र भी बदलती है ? अजी बदलता है नज़ारा !”

“बदले नज़ारा ! उसका तो धर्म ही है बदलते रहना !”

और वह ठमक कर साथ हो गई।

मिस्टर राय आगे बढ़े। उनके चेहरे पर हँसी की हिलोरें हैं। उनकी जिद्द कि चलिए साथ बैठा जाय—यह कैसे होगा कि आप अलग खाएँगे ?

मेरे अन्दर लिहाज तो ज़रूर उठा, मगर वह टिका नहीं—वस उठा और बैठ गया। यहाँ लाज और लिहाज की बारीकी तो अपनी ही किरकिरी होगी !

हम लोग उस सुसज्जित डाइनिंग हॉल में एक अलग टेबुल पर जम गए।

मीरा ने बैठते ही छेड़ा—“कहिण, क्या पीजिएगा ?”

यह लो ! पिता के हमजोलियों के आगे भी वह मीरा न रह कर मेमसाहबा ही बन बैठी सरापा। जब पिलाती है, तब पीती भी होगी शायद । ... नहीं-नहीं, इतनी गई—इतनी डूबी नहीं है वह। यह विलायती रंग तो उसके चेहरे पर है, कुछ अन्दर नहीं।

“कसूर माफ़। मैं यहाँ खाने आया हूँ, पीने नहीं !”

“यह खूब ! तो घर ही पर खाते, पैसे भी बचते !”

“घर पर तो खैर, रोज़ खाना ही है। मगर यहाँ का खाना और घर का खाना दोनों बराबर ?”

“जैसे कि आप दूध-पीते बच्चे ठहरे !”—मि० राय ने हँस कर छेड़ दिया—“भला होटल में कोई पेट भरने थोड़े ही आता है !”

“तो फिर ?”

“आता है जी भरने ! और उस जी के अन्दर जठर ही नहीं—आँख, कान, प्राण और जाने क्या-क्या नहीं हैं।”

“तो फिर यह पीने की फरमाइश कैसी ?”

“अजी, जाम भरिए तो जी भरे ! बगैर पिए तो जी भुरभुराता नहीं। और, वह भुरभुराया ही नहीं, तो भरेगा क्या खाक ?”

“मगर भई, मैं तो पीता नहीं।”

“तो फिर यहाँ आए हैं बस, मुँह देखने ?”—मीरा ने आँखें नचा कर कहा।

मैं तो चुप रहा। मगर उधर से छेड़खानी चलती रही—“अगर रोम में रहना है तो रोमन बन कर रहिए ! समझे ? यह होटल कोई वैष्णव-मन्दिर तो है नहीं। यहाँ तो जो आए, अपनी कंठी उतार कर आए।”

“तुम भी तो बड़े वैसे मालूम होते हो। दो घूँट पीने में क्या रखा है भला !”—रमेश ने भी दाद दे दी।

वह तो खूद विलायती बोतलों का विलासी ठहरा—वह भला कब चूकता ?

“तो आखिर क्या पीना है—सुनूँ भी !”

“मीरा ! इन्हें एक हल्का-सा गिमलेट दो।”

मीरा ने खानसामे को जाने क्या समझाया। वह दौड़ कर चार प्याले गिमलेट बना लाया—दो गुलाबी, दो अबीरी।

मैंने भी दिल में कहा कि जाओ, तुम भी क्या याद करोगी कि होटल में किसी दिलफेंक से पड़ा था पाला ! बस, चट एक गुलाबी गिमलेट उठाकर मीरा का टोस्ट पुकारा और होंठों से लगा लिया।

जानी-सुनी-देखी

चारों प्याले एक साथ उठे। मेरी निगाह मीरा के हाथ के प्याले पर गई तो मैं चौंक पड़ा—“अच्छा ! तो क्या आप भी...”

“क्यों, मेरे लिए यह ज़हर होगी क्या ? अगर होगी तो हर के लिए होगी—मेरे ही लिए क्यों ?”

मीरा की पेशानी पर परीशानी का कोई बल न था।

“यह तो अपनी-अपनी हृद पर है। हमें पता न था कि आप इस मद में भी तरक्की कर चुकी हैं !

“मालूम होता है, आप इस दुनिया में नए आए हैं जैसे। बस, इतने ही पर पाँव उखड़ गए ?”

मि० राय का चेहरा खिल गया, मीरा ने नहले पर दहला दे डाला। वे फूले न समाए। जबान न भी कहे, आँखों ने तो साफ़ कह ही दिया कि शाबाश ! अच्छी खबर ली ! फिर हँस कर बोले—“जी हाँ, आप ही पीएँ, वह नहीं ! वह तो बस, ढाल-ढाल कर पिलाया करे, क्यों ?—आप ही खाएँ, वह नहीं; वह तो चूल्हे की आँच में पकती रहे और पकाती रहे ! आप ही चमन की सैर भी करें, वह तो सफ़र का सामान जुटाती रहे।”

“आपने समझा नहीं। मेरा इशारा तो बस...”

“जी हाँ, आपका इशारा तो बस, साफ़ था—हमारे सामने यह गुस्ताखी ! हम ठहरे तुम्हारे पिता के साथी... है न ?”

“मान लिया, गुस्ताखी हमारी ही ठहरी। माफ़ी चाहता हूँ।”

“जी नहीं। मीरा आपको इस शोखी की सज़ा देगो ! माफ़ी कैसी ?”—मि० राय के चेहरे पर एक रंग दोड़ आया।

“सर हाजिर है !”

मि० राय ने अपनी पत्नी की ओर मुस्कुराकर कहा—“लो भई, क्या सज़ा दोगी, बोलो !”

“वही तो सोच रही हूँ। आप तो चालीस के उस पार होंगे ?”

“मैं बताऊँ”—मि० राय ने कहा—“बस आज फौक्स-ट्राट की लहरों पर इनकी एक-एक नस तोड़कर रख दो—है न !”

“यह खूब ! यह तो सज़ा नहीं, आपकी कृपा ठहरी। मगर मैं तो यह अहसान उठा न पाऊँगा।”

“सो क्यों ?”

“आपने सुना न, मैं चालीस के उसपार जो जा चुका हूँ !”

“अरे भई, आदमी बूढ़ा होता है, दिल बूढ़ा नहीं होता। कहीं शौक क़ी भी कमर झुक पाती है ? और, चालीस के पार गए तो क्या, कुछ उस पार जाने के दिन थोड़े ही आए !”

और बस, सब खिलखिला कर हँस पड़े।

प्याले का दौर जारी रहा। मेरे लिए तो वह गुलाबी गिमलेट ही सर का दर्द निकला, मगर राय और रमेश के साथ तो बस, प्याले भरने की देर रही। मीरा जब दूसरे प्याले की मंजिल पर आई, तो मुझे लगा कि उसकी आँखें जैसे भिप गईं।

क्या जाने क्या है ! वह एक आन्तरिक संकोच से तिलमिला रही है जैसे। क्या मुझे देखकर ? तो क्या बाकी है दिल में वह याद अभी ?

तो क्या वह जैसी दिखती है, वैसी है नहीं ? यह अपनी चाह नहीं, एक निबाह है बस ?

नहीं-नहीं, यह उस बुझते चिराग की अन्तिम लौ होगी, जिसे, जमाना हुआ, उसकी परम्परा की संस्कृति ने, उसकी चेतना की तह में रौशन किया था। ... और वह चिराग बुझता है तो बुझे, उसकी स्मृति तो निःशेष होने से रही।

हमें तो लगा कि उसकी आँखें जब अपने पति की आँखों में पनाह लेती हैं, तो जाने क्या ऐसी बिजली छू जाती है कि फिर उन्हें खुल खेलते देर नहीं लगती।

जो हो, मुझे तो एकाध बार ऐसा लगा कि इन लहरियों की ढगर पर वह जैसे खोई-खोई-सी दिख रही है। ... तो क्या वह कुछ चाह रही है—कुछ ढूँढ़ रही है, पर जान नहीं पाती कि वह क्या है ?

तो क्या वह अपने लिए भी पहेली है जैसे ?

जिस अभाव पर हम उँगली रख नहीं पाते, पर दिल महसूस करता है, उसका प्रभाव कोई कैसे मिटाए ?

मगर दूसरे ही क्षण मेरी धारणा ढावाँडोल हो चली। मुझे लगा कि यह शर्म की छाया तो शोखी की अदा में चार चाँद लगाने को उसकी आँखों में झाँक जाती है।

सच है, इस होटलबाजी की साँभरभील में मिसरी की डली भी नमक बन गई !

खाना तो, खैर, था ही; मगर खाना तो एक बहाना था जैसे। पीने का दौर साथ-साथ जारी रहा। अब उस उठते हुए नशे के तूफान में कोई क्या खाए, क्या नहीं खाए ?

“आप तो कहीं के न रहे। आप से बीस तो मीरा निकली। देखते नहीं, वह अपना प्याला साफ़ कर गई।”

“तो उन से तो मेरी बराबर हार है !”

“सो क्यों ?”

“अरे भाई, जब औरत उतर आई मैदान लेने, तो फिर मर्द तो उतरी हुई कमान हो गया !”

“आखिर वजह ?”

“यही लिहाज़—और क्या ? एक दिन लाज औरत के पल्ले थी, आज आ गई वह मर्द के पल्ले। वक्त की खूबी ! जहाँ माँहिला से मोर्चा लेना पड़ा, वहाँ मर्दों की हार घरी रखी है। और वजह भी साफ़ है। औरत अपने धुन की कभी कच्ची नहीं। उसके साथ समझौता नहीं—बीच-बचाव

नहीं। बस, इस पार या उस पार। वह तो शोला है या बर्फ़ ! उसके पाँव कभी धरती पर नहीं—आसमान पर हैं या पाताल के अन्दर। अगर वह प्रगति को अपनाती है, तो फिर वायें-दायें नहीं देखती। संस्कार छूटे, घरबार छूटे—कुछ परवा नहीं।”

“समझ गया। चहारदीवारी की ताबेदारी में ही उसे दबाये रखना चाहते हैं आप। वह आपकी जूतियाँ सीधी करती रहे और आप उसे सती-साध्वी की उपाधि के चक्रमे में स्वर्ग का सव्जबाग दिखाकर उसकी कराह के मुँह पर मुहर कर दें। समुन्दर पार गए होते, तो अपकी आँखें खुल पड़तीं। जब वह परिवार की थी, तब थी—आज तो वह समाज की है और कल वह संसार की होगी। रही होगी किसी दिन आपकी सह-धर्मिणी वह—आज तो धर्म की गुलामी से वह छुट्टी पा चुकी। चाहे जिस धर्म की लीक पर वह चले, उसकी खुशी। पर हाँ, उसे सहकर्मिणी अवश्य रहना है—सहचारिणी भी। कहाँ नहीं है वह ? अब वह हर क्षेत्र—हर उतार-चढ़ाव में साथ है। आगे नहीं, तो पीछे भी नहीं। कदम से कदम और कंधे से कंधा मिलाए चल रही है बराबर।”

“जी नहीं। मैं तो समझता हूँ, वह दो कदम आगे ही होगी। और, सुनिए, जब नरमी है तो नवनीत-सी नरम, जब गरमी है तो पहाड़ी तपिश-सी तेज। मातदिली तो

उसके खून ही में नहीं। अबतक उसे सूझता था बराबर प्रेम-मार्ग—भक्ति-पथ। सेवा ही उसकी निधि थी। आज वह भक्ति के बदले मुक्ति चाहती है—द्वैत से उठकर अद्वैत तक पहुँच गई। जिसने कभी अपने को देखना जाना ही नहीं था, आज वह अपने को देख कर ही किसी और को भले देखेगी—है न ?”

“जरूर ! और, वह अपनी आँखों देखेगी—आपकी आँखों नहीं। अबतक जो कुछ आप दिखाते रहे, उसी को उसने देखा—अपनी आँखें मूँदकर। अब वह आँखें खोल चुकी है। जीवन के हर पहलू को वह खुद देखती है बराबर। आपको अब राह दिखाने की जरूरत नहीं। अपनी राह वह आप ढूँढ़ रही है—ढूँढ़ लेगी।”

“यह खूब ! जैसे कि हमने उसे गुमराह कर रखा था।”

“और क्या ? धर्म की अफाँम खिला कर उसे लूट लिया था आपने। आज सोते से जगकर अपने “मैं” का पहले-पहल आविष्कार किया है उसने—अपने सतीत्व की मर्यादा में नहीं, व्यक्तित्व की अभ्यर्थना में। रही होगी वह किसी दिन देवी, आज तो वह मानवी है सरासर।”

जी, जभी तो वह जीवन के हर मोर्चे से लोहा लेने के लिए लैस हो रही है—मैंने मन ही मन कहा। आज उसके साथ अपनी खुशी है, अपनी दित्तचस्पी। अपना रोआँ

सिद्धरे, अपना सिर ऊँचा रहे। बस, अपनी बनी रहे। वह भी हर पुरुष की तरह दस के साथ रस का स्वाद लेगी। अब न रही नीड़-रचना की सरकन्दनी—प्रिय और परिजन पर जाँ-नसारी। अब वह भी हर की देखादेखी दस की आँखों में अपनी मोहिनी देखेगी, अपनी प्रशस्ति दूँ देगी। अब निगाहों का जादू एक के लिए नहीं, अनेक के लिए होगा। उसकी मुस्कान के मोती चुनने के लिए आँखों से आँखें बिलेंगी बराबर। वह मंच पर खड़ी होकर करतारियों की श्रद्धाञ्जलि लेगी, समाज और राष्ट्र के संगठन में हाथ बटाएगी, अपनी रोटी आप जुगाकर मर्दों को चुनौती देगी, क्लब में बैठ कर हाथो-हाथ ब्रिज की बाजी लेगी और डांसिंग हॉल में जाकर—कमर का वह कलात्मक कमाल दिखाएगी कि बस। और, वही कमर जिस पर परतला बाँध समर में उतरने में भी उसे कोर-कसर नहीं।

बस, वह अपनी सनातनी संस्कृति के हाथों से निष्कृति पा गई। वह सब कुछ करेगी और करके रहेगी। वह दिन दूर नहीं, जब मर्द की छाती पर वह मूँग भी दल लेगी। मगर क्या प्रकृति का तख्ता पलट वह उस छाती से दूध भी निकाल पाएगी? अगर नहीं निकाल पाती तो फिर क्या होगा? माता तो उसे ही होना है और माता के दूध में ममता ही आती है—कुछ समता नहीं।

मि० राय अपनी धुन पर बने रहे—“देखिए न,

हमारे यहाँ स्त्रियाँ बिचारी तो कहीं की नहीं रही हैं । उनकी न तो अपनी मर्जी रही, न अपनी आज्ञादी । अगर वह किसी की अपनी माँ, बहन या नज्दोकी संबंधी न हुई, तो फिर वह बाज़ार की वेश्या ही होगी, तब किसी पुरुष से मिल पाएगी—नहीं, तो नहीं । यही तो आपकी सामाजिक रीति रही है । किसी क्षेत्र में साथ ता अवैध ठहरा । घर के बाहर के संसार से कोई सरोकार नहीं । भरसक वह अंधविश्वास का शिकार बनी रही—लिये रही देवी-देवता, गुरु पुरोहित और व्रत-पार्वण । करतो क्या बिचारी ? किसी सभा-सोसाइटी में प्रवेश नहीं, किसी हँसी-खुशी में शामिल नहीं । बस, माँग और गोद की परिधि में सिमट कर रह गई ।

“मैंने तो मीरा के पिता से विवाह के पहले ही जता दिया था कि हमें किसी सीता-सावित्री-जैसी आदर्श पत्नी या गृहिणी की तलाश नहीं, एक सुख-दुख की संगिनी चाहिये, जो जब जैसी परिस्थिति हो, अपने पैरों आप खड़ी भी हो सके ; घर के बाहर भी हर परिस्थिति हर सभा-सोसाइटी में स्वच्छन्द साथ दे । और, हम उसकी कोई भी भूल-चूक खुशी से सर रोप उठा लेंगे । मगर हाँ, हमारे यहाँ वह देवी-देवता का ढकोसला और वह बेकार भजन-पूजन का सिलसिला नहीं चलने का ।”

“समझ गया । आपकी निगाह पर एक विलायती

आबताब की बिजली है जो हमारे यहाँ तो आप चिराग लेकर भी दूँदें तो एकाध ही.....”

“आपकी भी क्या बातें हैं ! खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है । अब यहाँ भी कितनी नारियाँ परलोक के स्वप्नसौध से उतरकर ऐहिक सुख-स्वाच्छन्द्य के धरातल पर आ गईं । आप मीरा को ही क्यों, आज की किसी भी नई रोशनी की हिमायती महिला को देखें—अब गुरु-पुरोहित की धाँधली वाली सद्गति को न दूँदकर प्रगति की पुजारिन है वह । क्या क्लब, क्या कार्निवल, क्या होटल, क्या डांसिंग हॉल—हर अंचल में उसकी अपनी धाक है आज । कहाँ अपने ही अन्दर सिमट कर रह जाती, कहाँ इस विराट संसार को अपनी उँगलियों की पोर पर रखती है सरासर ।”

“जी हाँ, दुनिया की खबर वह लाख रखे, मगर अपनी खबर तो शायद वह भूल बैठी । वह होश में क्या आई, अपनी मौज के जोश पर बेहोश हो गई जैसे ।”

“सो क्या ?”

“यही कि नारी-जीवन का अवलम्ब तो प्रेम ठहरा, मगर है वह अवलम्ब अपनी जगह पर आज ? आपकी नज़रों पर तो समुन्दर के उस पार का चमत्कार है आठो पहर । इस नई रोशनी के हवा-पानी में बस, शरीर सँवरा, इन्द्रियाँ जोश पर आईं, मगर अन्दर का जौहर तो निख-

रने से रहा । विलायती साँचे का प्रेम तो बाज़ार का सौदा ठहरा—इस हाथ दो, उस हाथ लो ।”

“और आपके यहाँ ?”

“हमारे यहाँ तो प्रेम करना ही प्रेम पाना भी है । वह अपना ही प्रतिदान ठहरा । जिस प्रेम के साथ माँग है, वह तो उसका स्वांग है बस ।”

“जी, आपकी निगाह में आज भी सीता-सावित्री ही फिर रही हैं ! वही पुरुषों की सनातनी प्रभुत्व की सजी-धजी भित्ति जो ठहरें । मगर साहब, वे दिन अब लद गए जब कोई बगैर आपकी ओर से कुछ पाये अपने को आपके लिए लुटाने में ही सुख पाता था । आज सिन्दूर नारी-जीवन का चरम आधार न रहा । वह सर का भार नहीं तो शृंगार भी नहीं है ।... आपके पैर-तले की ज़मीन तो सरक गई, फिर भी एक शुतुरमुर्ग की तरह आप उसी रेत में अपनी चोंच गाड़े सपनों का जाल बुनते ही रहेंगे, तो गुस्ताखी माफ़, आप कहीं के न होंगे इस प्रगति के युग में ।”

भगवान जाने, इस उद्गार के अन्दर कहाँ तक उनके विचार का हाथ था—कहाँ तक उनके हाथ के काकटेल का ! आखिर तो दोनों एक ही थैले के चट्टे-बट्टे ठहरे !

तो क्या विलायती बातलों की धार के साथ-साथ विलायती भाव-धारा भी हमारे अन्दर प्रवेश पाती है ?

पुडिंग का दौर खत्म होने को आया। डांस की बारी आई। पास के डांसिंग हॉल से बाजे का लहरा गूँज उठा। जवानों की टोली में एक सनसनी छा गई। कितने ता टेबुलों से उठ पड़े; लगे पार्टनर को तलाशने। नज्दों का जाल बिछ गया जैसे। मीरा के इर्दगिर्द तो एक मेला-सा लग गया। सैकड़ों आँखें झुक पड़ीं उस पर।

वैसे तो उस होटल के चमन में कितनी फूटती कलियाँ थीं जिनपर भौरों का गुंजार किसी से परदा न था; मगर उस महफिल में मीरा तो थी मीरा। उसकी अमीरी की अपनी एक निराली शान थी जो किसी के लिए सितम हो गई, तो किसी के लिए करम। उसकी चितवन की उद्दीपना ने जाने क्या ऐसा इशारा कर दिया कि बस, कितने रसीलों ने मचल कर अपनी हथेली पर दिल रख दिए।

वह जो किसी ने कहा है न कि 'बिस्मिल की सूरत में कोई क्राविल की फ़ितरत देखे !' बस, उन नौजवानों

के चेहरे पर चढ़ते और उतरते हुए रंग पर जिस चितवन का चमत्कार बोल रहा है वह तिलस्म का तमाशा कोई आँखवाला आँखों में प्राण भरकर देखता ! न सही शब्द, अर्थ तो प्रचुर है । न सही वाणी, भावों की अभिव्यक्ति तो भरी है ।

हाय री मीरा ! कुदरत ने कैसी बेनज़ीर नज़र दी है तुम्हें ! काश तुम अपनी नज़र से देख पाती उसे ! शायद अपनी नज़र के जौहर की तुम्हें खबर भी नहीं । है कुछ खबर कि क्या-क्या नज़रें निछावर हैं तुम्हारी एक नज़र के लिए !

मगर किस-किस नज़र की माँग पूरी करे मीरा ? हर-किसी की चाह कि वह उसी को साथ लेकर थिरके । फरमाइशों की झड़ी लगी है । जो तेज़ तर्रार है उसकी ज़बान भी बोलती है । जो वैसा वाचाल नहीं, उसकी बोलती है आँख ।

मि० राय की बाँछें खिल रही हैं । अपनी मीरा का वह जलवा उनकी आँखों में मदिरा का तरारा हो रहा है जैसे ।

इधर मीरा मुस्कुरा रही है, सकुचा रही है—कुछ गुनगुना भी रही है । और, न 'हाँ' करती है न 'ना' । उन आँखों की आकुल उत्कंठा, उनकी उग्र प्रतीक्षा मीरा की आँखों पर क्या-क्या करश्मे दिखा रही है—मीरा जाने !

मगर वह थी एक और उम्मीदवार अनेक ! बारी-बारी भी साथ देती है तो चार या पाँच राउंड ही तक दे पाती है । दस्तूर तो यह है कि जो पहले आए, वह पहले पाए । 'क्यू' की क़तार होती तो बैठे-बिठाए निबाह हो जाता । यहाँ तो वह बीसों के बीच घिर गई—'बचाऊँ किधर की चोट, उठाऊँ किधर की चोट !'

एक सकते का आलम है । हर उम्मीदवार के चेहरे पर एक रंग आ रहा है—एक रंग जा रहा है । किसके सितारे ऊँचे आते हैं, किसके डूब जाते हैं ।

“अरे भाई, हमारे लिए भी तो एकाध जगह रखो !”

यह लीजिए ! शौहर भी उम्मीदवारों के गरोह में शामिल हो गए !

सभी हँस पड़े । दस्तूर तो यह ठहरा कि उन उम्मीदवारों के साथ डिनर में आई हुई किसी नवेली या सहेली के दरबार में अपनी अर्जियाँ पेश करते । पति और पत्नी का एक साथ डांस पर थिरकना तो जाने कैसा-सा लगता है । लोग आँखें तरेरते हैं, गुपचुप चुटकियाँ लेते हैं । न सही वह शिष्टता के प्रतिकूल, एक अकड़ तो जरूर है । हाँ, एक राउंड तक कोई वैसा नियम का व्यतिक्रम भी नहीं ।

“मगर ठहरो, भूल जो हो रही है । पहला डांस तो आपके साथ नियत हो चुका है न !”—मि० राय ने हँस-कर हमारी ओर देखा ।

है नियत ? नीति तो यही ठहरी—हमारी नियति चाहे जो हो ! हाँ, उसकी नीयत क्या है—कौन कहे ? सब कुछ तो उसी पर नियत है । वह तो न साफ छिपती है—न साफ खुलती है । क्या जाने, क्या चाह रही है—कैसे चाह रही है । आखिर उन जवानों के आगे हमारी पैठ तो सहज नहीं ।

हम क्या कहें—यह हम पर सितम होगा या करम ! हम को तो यह लौ कभी लगी नहीं और न इस दरबार की बन्दगी हम से कभी निभ पाई है । वैसे आँखों से शामिल तो बराबर रहे, जो भी उठता और बैठता रहा; मगर कमर की लचक तो दूर, न हाथ साथ दिए न पैर । उस रस की स्रोतस्विनी के किनारे रह कर भी न गोते लगा पाए, न तैरे । बस, उन लहरों की लावण्यलोला पर लहरा के रह गए !

और, मैं मीरा को देख रहा हूँ, मीरा भी मुझे देख रही है । कौन समझे उसकी आँखों की वह नीरव भाषा ? उसके चेहरे पर प्रतीक्षा है, उत्तेजना है, अवहेलना है, वेदना है या लज्जा है—एक साथ जाने क्या-क्या है, पता नहीं । मैं अपना पता भी तो पाने से रहा, उसका पता क्या पाता ?

बस, उधर उसके चेहरे पर एक तिलस्मी मुस्कुराहट है, इधर कितने नौजवानों की आँखों में अरमानों की एक दुनिया थर्रा रही है । और, यहाँ एक यह अपना दिल है

जो ऐसा डूबा जा रहा है कि उसे पता तक नहीं—वह क्या चाह रहा है ।

उसकी उभरी हुई जवानी, उसकी चितवन की चाशनी, उसकी मुस्कान की माधुरी और उसकी ज़बान की मोहिनी कुछ ऐसी मनोहारी थी कि होटल के शौकीन जवानों की टोली में, उसकी कमर में हाथ डाल फॉक्सट्राट पर थिरकने के लिए, कंधे से कंधे छिलते । और, एक हम ऐसे सिरफिरे निकले कि यह रहमत छप्पर फाड़ कर सर पर मूसलधार बरसने भी आई, तो अन्दर से लिहाज़ ने वह जोर मारा कि प्रवृत्ति के पैरों में जैसे बेड़ियाँ पड़ गईं । रह-रह कर यह लगता कि हम रहे मीरा के पिता के साथी—वह हमारी कन्या के बराबर ठहरी । माना कि यहाँ विलायती हवा-पानी का दौर है, पर उससे क्या ? यह धरती तो और नहीं, यह आसमान तो और नहीं ! और, फिर हम कब कैशन के वैसे अनन्य भक्त रहे !

बस, आँखों से मिसेज़ राय उड़ गईं, उभर आई आँखों के सामने दस साल की एक बच्ची मीरू, जो हमारी नीरू के साथ गुड़ियों के व्याह की बरात सजाती—मँड़वे के गीत गाती ।

और, बस, होंठ सट गए मेरे । न ज़बान खुली, न हम अपना दावा पेश कर पाए ।

लीजिए ! यह कर्नल साहब कहाँ से टपक पड़े ?

देखा, डिनर-हॉल के एक कोने से उठकर कोई आधे

दर्जन कौजी अफसर और मेम हमारी टेबुल के चारों ओर छा गए। उनमें कर्नल साहब भी हैं जिनका सिन पचास के पार जा चुका होगा, मगर दम-खम की वह चुस्ती कि जवानों की आँखों में भी चुभ पाती। कानों के पड़ोस के बाल सुकैद न हों, तो वे जवानों में शुमार होते। मिलिटरी वर्दी के अन्दर से अँगों की सहज फुर्ती हमारी आँखों को फड़का गई। मीरा की आँखों में आँखें डाल उन्होंने भी अपनी अर्जी पेश की।

एक तो श्वेतांग, दूसरे ऊँचे ओहदे के मिलिटरी अफसर—उनके सामने भला कौन ठहरता अब ? यारों की तो पिलही चमक गई जैसे। चलिए, मेरा प्रश्न भी यों ही हल हो गया ! कहीं राजा के आगे बाबू की दुहाई ? मैं किस खेत की मूली ठहरा !

मीरा मुँह के बल गिरी नहीं—शाबाश ! पल-भर खड़ी सोचती रही। चेहरे के तेज की गरिमा देख कर तो मुझे लगा कि वह कहीं नरमी से जवा न दे कि अफसोस, वह पहले राउंड के लिए हाथ काट चुकी है। और, शायद उसके होंठ इसी बन्दिश पर हिलने को आए भी कि हमारे साहब बहादुर मुँह से बात छीन बड़े तपाक से आगे बढ़े—“हाँ-हाँ, वह तैयार है !”

हमें तो लगा कि ‘शुक्रिया’ कह कर हिन्दुस्तानी की बची-खुची आन भी डुबो न बैठें। ज़बान तो विलायती बोतलों में काफी डूब चुकी थी। जाने कब क्या उगल देती !

कर्नल ने जैसे कुछ सुना ही नहीं। मीरा की ओर आँख बिछाए खड़ा रहा। शायद सुन कर भी अनसुनी कर दी। है भी ठीक। सवाल पेश था मीरा के पास। मीरा के पति चाहे लाट ही क्यों न हों, उसकी तरफ से जवाब दे बैठने का कोई हक था नहीं। न यह शिष्टता की नीति है, न डांस-हॉल की पद्धति।

मुझ पर तो जैसे सौ घड़े पानी पड़ गया। हाय रे हमारे स्वप्न-विलासी देशवासी, और हाय रे साहबी वज्जेदारी का शौक ! अँग्रेजों की जूतियाँ सीधी करते तो उम्र कट गई, मगर अँग्रेजी जूतों में पाँव रखने नहीं आया ! उनकी अक्ल तो ली नहीं, नक़ल लिये रह गए—और वह भी साफ़ उतरने से रही। विलायती चलन अपनाने तो हम चले, पर इस चाल की चकरघिन्नी ही में चक्कर काटते रह गए। अनुसरण तो एक दिन स्वावलम्बन का दामन भी थाम लेता है, आँख-मुँद अनुकरण तो जीते-जी मरण है जैसे। आखिर आँखों-देखी और है, देखादेखी और।

विलायती बोटलों के विलास पर हम उतर तो आए, पर पेग के पैमाने पर पाँव रोप ठहर न सके। वह डूबे कि हमारी लुटिया डूब गई। सर पर हैट रखने से हमारा दिमाग़ ऊँचा जो हो, हमारा सर ऊँचा नहीं होता, और न कोट-बूट की अकड़ पर पाउडर और क्रीम की लीपा-पोती से हमारे चेहरे का उतरा हुआ पानी चढ़ पाता है।

रूप और स्वरूप

हम शीशे के सामने खड़े हो कर अपनी शक्त पर एकाध रंग के छींटे और भी चढ़ा देते हैं, ताकि वह दुनिया की आँखों में खुशरंग दिखे मगर अन्दर का शक्त पर फिरते तो हमारी नज़र म्रिय-म्रिय जाती है—उसे तो हम देख नहीं पाते। न खुद देखना चाहते हैं, न दुनिया को ही दिखाना चाहते हैं। यों एक नक़ल को पेश कर दुनिया की आँखों में धूल भोंक हम असल की कामत जो कमा लें, अपना असल तो दुनिया ही के लिए क्या, हमारे लिए भी तो एक ज़हर का घूँट है !

जभी तो हम अपने का दुनिया के सामने जितना रखते हैं, उससे कहीं ज्यादा उससे छिपाकर चलते हैं—और, यों कुछ दुनिया ही से उसे छिपाकर नहीं दम लेते, एक हद तक अपने से भी छिपाए रहते हैं उसे।

मोरा ने पति के मुख की लाली रख ली। पति की गुस्ताखी पी गई और स्वीकृति दे दी। दूसरे राउंड के लिए एक मेजर और तीसरे के लिए एक कप्तान की अर्ज़ी गुज़री—और, दोनों की गोटी लाल होकर रही। साहबी वज्रदारी के हिमायती भारतीयों की टोली तो जैसे कट-कट गई।

मगर हाथ ही हमारी नस-नस में पैवस्त गुलामी की लहर ! हमने मोरा की ही खुशनसीबी समझी, कर्नल की वैसी नहीं। उसके दर पर एक इतना ऊँचा गोरा अफसर सहनृत्य की भीख माँगने आया—यह उसके ऊँचे सितारे

नहीं तो क्या हैं ! जभी तो हमारी अपनी महिलाओं की नज़र में पल-भर चिनगी उभर आई ! भला, मीरा में कौन ऐसे लाल जड़े हैं कि ऐसे कड़ियल अंग्रेजों के मुँह से राल टपक पड़ी !

किसी की अर्जी पहले आने ही से कुछ स्वीकृति की गारंटी नहीं । कोई मीरा पर उँगली उठाए भी तो कैसे उठाए ? वह ठहरी स्वयंवरा । जिसे जी चाहे, वरण करे—उसकी मर्जी । उसने कब किसी को जवान दी ? अगर वह एक मिलिटरी कर्नल को तरजीह देती है, तो यह तो विलायती शिष्टता की शान ठहरी—मिलिटरी पहले, सिविलियन पीछे !

और, नाउम्मीदी की कोई वैसी वजह भी तो नहीं । चौथे और पाँचवें राउंड के लिए तो अबतक न कोई गोरा अफसर आया है, न लाट साहब की कौंसिल का कोई मेंबर । आखिर किसी भी स्वदेशी पर तो एक नज़र होकर रहेगी । नहीं तो एक भारतीय महिला होने के नाते उसकी अपनी मर्यादा की छीछालेदर धरी रखी है ।

मैं तो समझता हूँ कि उस हॉल में भारतीयों के अन्दर उसके हाथ के लिए आपस की कुछ ऐसी खींचतान उभार पर आई कि एक गौरांग के ही गले में जयमाल डालने में उसने सब के लिए कुशल समझी । उनमें से किसी एक का मुँह वह उजियार करती तो जाने कितनों के मुँह पर

झाड़ू फिरती। आगे चाड़े जो आए, उस घड़ी तो इस निबटारे से यह तनातनी टल गई।

मिलिटरी अफसरों के साथ उनकी बीवियाँ नाच के लिबास में लैस आई थीं। सीने के ऊपर का हिस्सा गर्दन तक बिलकुल खुला, गले में मोती का हार, उन्नत वक्षस्थल और ँड़ी चूमता हुआ चकमक गाउन यह डांस का वेश भी एक नशे का सन्देश लिये चलना है बराबर।

पत्नी की स्वीकृति पति का पस्ती को जैसे एक ँड़ लगा गई। उन्हें भी बराबरी की सूझी। एक तपाक के साथ कर्नल की पत्नी की ओर मुड़ गए। जब मीरा चली है कर्नल का साथ देने, तब कर्नल की पत्नी तो जैसे उनके हिस्से आ गई!

वाह रे हिमाकत! गोरे का मुँह तो था नहीं; मुँह लिये रह गए! मगर मुँह की खर भी मुँह उजियार करने की चाट गई नहीं। कर्नल की पत्नी के इनकार को पीकर वहीं बराल में खड़ी मेजर की पत्नी के आगे फिर मुँह खोल बैठे। और वही कोरा जवाब— 'माफ़ी चाहती हूँ—मैं कभी बुरा हो चुकी। अफसोस, कोई राउंड खाली नहीं' तीसरी की ओर अभी लपक न पाए होंगे कि वह मुह फेर लगे एक गोरे के कान में जाने क्या फुसफुसाने।

हाय रे साहबी शौक! तुम्हें भी गोरे साहबों की देखादेखी की हवा लग गई? अपनी मनमानी आँखों से

जानी-सुनी-देखी

अपने को देखने के बदले दुनिया की आँखों से तो अपने को देखते ! तभी तुम्हें पता चलता कि किसी की आँखों में तुम नहीं खुबते और तभी तुम अपनी आँखों में भी लगते चुभने ! यही चुभन तो एक दिन स्वावलम्बन का सोपान होता ।

सोचो तो, जो बात कर्नल की रियासत में शुमार हो रही है, वही तुम्हारे लिए जैस हिमाकृत हो गई है ! आखिर क्यों ? है इस विस्मय का कोई रहस्य ? और तो और, हमी में से ऐसे कितने हैं जिनकी निगाह में भी कर्नल की—मीरा को डांस का पार्टनर बनाने की—चेष्टा उसकी शिष्टता-सी दिखती है और तुम्हारी एक अंग्रेज कर्नल की पत्नी के प्रति यह सद्भावना जैसे शोखी में शुमार होती है । उधर हम आँखें फाड़ते हैं, इधर आँखें तरेरते हैं । लो, कान खोल सुनो । तुम्हारा ही भाई भी चुटकियाँ ले रहे हैं कि चौबे चले थे छब्बे होने, दूबे होकर रह गए !

मुगल सम्राट अगर किसी हिन्दू राजघराने की लड़की महल में उतार ले आए, तो यह दरियादिली उस घराने के युवराज को हज़ारों की मनसबदारी दे गई । मगर क्या वह मनसबदारी शाहीमहल में भी उनकी रसाई की बुनियाद दे पाई ? बराबरी का दावा बराबरी में ही निभा है बराबर ।

अंग्रेजों के साथ शिष्टता चलती है—एक हद तक

रूप और स्वरूप

रसिकता भी । मगर आन्तरिकता का निभना आसान नहीं ।

हमारी तो सिट्टी-पिट्टी गुम है । आँखों के सामने गवर्नमेंट-हाउस के डिनर की एकरात फिर रही है—थिरक रही है ।

डिनर की घंटी अभी बजी नहीं । डिनर-जैकेट या काले अचकन में लैस जाने कितने नामी-गरामी देशी और विदेशी सज्जन ड्राइंग-रूम में हाथ बाँधे खड़े हैं । कितनों के हाथ में कॉफ़्टेल की प्यालियाँ भी छलक रही हैं और वे रह-रह कर चुस्कियाँ ले रहे हैं । बस, लाटसाहब का इंतज़ार है । टेबुल पर कौन किस क़गीने से किसके साथ बैठेगा—इसकी एक छपी विवृति सामने दीवार पर टंगी है । हर कोई अपनी-अपनी सीट अपने स्मृति-पटल पर आँक रहा है । हर के साथ एक लेडी-पार्टनर नियत है, जिसे साथ लेकर डाइनिंग-हॉल में क़दम रखने का दस्तूर है । हर जोड़ी का आपस का परिचय करा देना मिलिटरी-सेक्रेटरी के ज़िम्मे है । वह जिस कुर्सी पर जिसकी जगह रख दे, वही सीट उसे लेनी है—यह नहीं कि सीट की नियुक्ति कुछ उसकी अपनी मर्ज़ी पर है । सरकारी दरबार की कोई बँधी-सधी और नपी-तुली परिपाटी है, जिसकी भित्ति पर सीटों की बाँट है । उसकी पाबन्दी से कोई बरी नहीं ।

डिनर का वक़्त आ गया । न लाट और न लेडी, न मिलिटरी सेक्रेटरी । आँखें टंगी हैं, कान खड़े हैं ।

घंटी नहीं बजती। तो यह भी हिन्दुस्तानी दरबार हो गया क्या ? यहाँ तो समय को कैद बड़ी कड़ी रहती है।

आज हम यह क्या देख रहे हैं ! यह नई ज़मीन, नया आसमान ! हो-न-हो, यह हिन्दुस्तानी सज्जन जो अचकन और गुलेनार साफ़ में अलग खड़े हैं, इन्हीं के पार्टनर का इंतज़ार होगा। मगर वह आख़र है कौन ? आई क्यों नहीं ? यहाँ तो सर के बल आते हैं मेहमान ज़मीन चूमने ! उसमें कौन लाल जड़े हैं कि ऐसी बेफ़िक्री आ गई ? कुत्ते ने काट खाया है क्या उसे ? कहीं साँप तो नहीं सूँघ गया ! अचानक बौमार तो नहीं हो गई। मगर उसे वक्रत के क़बल ख़बर तो भेज ही दनी थी। उसकी जगह कोई और उतर जाती।

जोड़ियाँ टूट गईं। लोग इधर-उधर पता लेने बिखर गए।

तभी किसी ने कान के पास मुँह ले जाकर साँसी में कहा—“अजी, वह कोई विलायती लेंडी है। हाँ, बड़ी आई है दिमागवाली ! किसी काल की पार्टनर होकर आने को तैयार नहीं। मिलिटरी सेक्रेटरी की भी एक न चली—न नरमी, न त्योरी। फिर कैसे क्या हो ? कहीं यह बात कानोंकान सरे आम आई, तो फिर हमारी ही क्या, सरकारी दरबार की भी नाक कट गई आज।

अंग्रेजों के अन्दर दो दिल चाहे जो हो, पर वे दो

आँख नहीं रख पाते—काले के लिए और, गोरे के लिए और। दो आँख रखना तो उधार हो जाना ठहरा। वे नीति का तकाजा जो अनसुनी कर दें, राजनीति का अनसुनी कर देना खेल नहीं।

जभी तो यह आज का भंडाफोड़ जैसे सेंध पर चोर का पकड़ जाना ठहरा ! वे पर्दे के अन्दर न विषमता पालते, न सामने की सजी-सजाई समता का सञ्जबाग यों बेपर्द होता। आखिर पर्दे ही के अन्दर तो बेपर्दगी का गुल खिल पाता है अक्सर।

सुना कि लाटसाहब का पारा चढ़ा है। मिलिटरी सेक्रेटरी की खासी मरम्मत भी रही। मगर वह औरत निकली एक ही जिद्दी। किसी की एक न सुनी उसने। जब टस-से-मस न हुई, तब उसकी जगह एक दूसरी गोरी लेडी से कमी पूरी की गई। और मिलिटरी सेक्रेटरी बड़े तपाक से समझाने आए कि जो आनेवाली थी वह रास्ते में जाने कैसे मोटर के धक्के में आ गई; उसकी जगह यह एक नई रख ली गई; क्या किया जाय? विधि का विधान तो सरकार के विधान पर भी बाला है।

जी, और उस विधि-विधान ने कुछ उन्हें हिन्दुस्तान की हुकूमत का दमामी पट्टा नहीं दे रखा है। यह समझ रख कर भी ऐसी बेसमझी? यहाँ कोई अंधा न रहा अब। आँखें खुल चुकी हैं—जबान वैसी खुली चाहे न हो।

जानी-मुनी-देखो

उनको हमसे पर्दे का खयाल है, तो यों पर्दा देते रहने से उनका पर्दा उठ-उठ ही जाता है अक्सर—और, यह जासूसी आँखें पा ही लेती हैं एकाध झलक। भला, इस पर्दे से पर्दा रहता कहाँ है ?

“यों चश्मेशौक देख हो लेती है कुछ न कुछ,
पर्दे का है खयाल तो पर्दा न कोजिए !”

डिनर तो रहा। वही जशन, वही चहलपहल, वही रोबदाब। मगर उस तमाम चमक-दमक पर उस विगत काण्ड का असर जैसे बादल बनकर छाये रहा।

अब वे दिन रहे नहीं। गौरांग भोर के तारे हो रहे हैं जैसे। गांधी की आँधी में पड़ कर ताप की वह प्रखरता आप ठंडी पड़ गई। अब किसी हिन्दुस्तानी के डिनर और डांस की सहचरी लाट की लाड़ली भी खद ब-खुद होती है। इनकार के लिए किसी चलनसार वहाने का आधार चाहिए—यों मुँहतोड़ जवाब नहीं।

कर्नल और मेजर की बीवियाँ, भूठी या सच्ची, अपनी मजबूरी जताकर माफ़ी माँग गईं। उनपर छींटे तो आ न सके। वे पहले ही बँध चुकी हों, तो अचरज क्या ?

मगर हमारे नये साहब के शौक की क्या कहिए ! उन्हें तो पार्टनर के लिए कोई गोरी मेम ही चाहिए ! देशी महिलाएँ तो देशी बोटलों की तरह उनकी तबीयत से उतर गईं। लहराती साड़ियों के बीच से रास्ता निकाल वे

रूप और स्वरूप

गाउनों के गरोह की ओर मुड़े । आखिर जब कोई विला-
यती खाली न मिली, तो एक खिचड़ी का पल्ला थाम वे
मुँह लिये लौट आए । शक्त और लिबास से तो वह
विलकुल विदेशी ही नज़र आई । मगर जो जानकर थे,
उनसे पर्दा न था कि चाँदी की चमक जो हो, यह असली
चाँदी नहीं—रूपा है, रूपा ! बाप देशी, माँ विदेशी !

४

डांसिंग-हॉल से बाजे का लहरा गूँज उठा। डाइनिंग-हॉल का मेला टूट चला। तमाम जोड़ियाँ हँसते-खेलते आगे बढ़ीं। मेरी पार्टनर तो कोई थी नहीं, न मैंने किसी की बाँह गही या उँगली पकड़ी मगर विलायती डांस के रस की प्यासी आँखें मुझे साथ खींच ले गईं। आखिर खुद उमड़कर भूमने में भूमती हुई मस्ती का मञ्जर आँखें गड़ा कर पीने में भी जो नशे का आवेश है, वह क्या कोई ऐसा-वैसा मस्ती का अलम है? साक्री की निगाहों में जैसी एक प्यास है, वह प्याले की लालपरी पर मरने वाले पियकड़ों की पहुँच के भी परे है। आँखों के अन्दर जैसी रसमाती रसना है, वैसी कोई रस-सिक्त रसना भी क्या होगी !

हाँ, आँखें रस की मस्ती ढूँढ़ती हैं तो ढूँढ़ें—दिल को तो आँख मूँद आँख का साथ देना नहीं है। वह भी आँखों की नाजबरादारी पर आ गया तो जैसे आँख का

पानी ढलता है—वह भी अपना पानी आप खो बैठता है ।
आँख से बदगुमानी चाहे जो हो, उसे तो अपनी दोड़ पर
बराबर आँख रखना है ।

और, डांसिंग-हॉल की रस-भरी रंगीनियों के क्या
कहने ! हमारी इन्द्रियों के आतिथ्य का ऐसा अबाध
आयोजन तो कहीं और मुमकिन नहीं । एक आँखों की
ही मेहमानी नहीं. हमारे एक-एक अंग की वैसी दावत
कहीं किसी ने कभी देखी, न सुनी । कोई हमारी आँखों
से पूछे, जबान से नहीं । किसी कलावलासी दिल से
पूछे, एक कलात्मक कलम से नहीं । अगर डाइनिंग-हॉल
रस का सरोवर है, तो वह सरासर रस का कौसर ।
उसे तो वही जानता है, जो उसे जान पाता है, उस पर
जान दे पाता है ! किसी अनजान को कोई कैसे जनाए ?
वहाँ न किसी कल्पना की पहुँच है, न किसी भावना की ।

हठात् मि० राय को जाने क्या सूझा । ठोक बैठे—
“यह लो ! बच्चा तो मजे में सो ही रहा है । वह ‘आया’
भी वहाँ है ही । तुम नाहक.....”

तो क्या मीरा ठमक पड़ी है बच्चे को देखने ? उसका
कमरा भी मिला हुआ है डांसिंग-हॉल से शायद ।...
मगर किसी ने उसे अपने कमरे की पौर पर ठमकते देखा
भी ? हो-न-हो, यह उनकी अपनी दूरदर्शिता होगी ।
कर्नल के साथ वह न होती, तो शायद यह चेतवनी भी
नहीं आती ।

जानी-सुनी-देखी

मगर किसी चेतावनी की तो वैसी कोई हाजत नहीं दिखती। मीरा कुछ ऐसी-वैसी थोड़े ही है। है भी बच्चे के लिए कोई जगह बाकी उसके दिल में ? उसका रवैया तो कुछ और ही कह रहा है। इस विलायती हवा-पानी के बवंडर में वह माँग और गोद की दकियानूसी दीवार तो कभी की ढेर हो चुकी। जो कुछ होगी भी, वह नुमा-इशी होगी—कुछ दिली नहीं।

अबतक प्रेम ही जिस जीवन का मूलधन था, उस पर आज विलासवल्लभ फैशन का नियंत्रण है—शृंगार का शासन। वही शृंगार जो पहले सतह पर ही टकरा कर रह जाता, आज नई हवा की लहरों पर पैर रख नारीत्व की तह तक पैवस्त है सरासर। श्रेय तो प्रेय होने से रहा, आज प्रेय ही श्रेय ।

मगर यह रंगीनी की मोहिनी हमारी आँखों पर जा आए—कुछ दिल तक तो उतर नहीं पाती—

‘‘इश्क है एतबार के काबिल,
हुस्न का एतबार कौन करे !’’

डांसिंग-हॉल की लीला-लहरी शुरू हो गई। बाजे की स्वर-माधुरी रह-रह कर लहरा रही है। जाने कितनी जोड़ियाँ उमड़ आईं। मीरा की मोहिनी की अमीरी तो मीरा ही की मोहिनी दिखा पाती है—किसी और की रंगीनी तो बस मुफलिस का चिराग हो रही है उसके

सामने । यह क्या करश्मा है कि जिस तरफ आँखें उठती हैं—बस, वही भ्रूमती है, वही मुस्कुरा रही है जैसे ।

‘इन्दर की परियाँ’ कभी किसी ने देखीं नहीं; मगर उस सभा की रंगीनियों का जैसे एक नवीन संस्करण यह आज का डांसिंग-हॉल कोई आँखें पसार कर देख ले । वैसे तो परियाँ आज एक-से-एक उतरी हैं उस मखमली फर्श पर थिरकने, मगर मीरा के एक-एक अंग की लास्य-लीला तो कला का वह कल्लोल है कि कोई और दिन होते, तो शायद आसमान से देवता उतर आते उसकी आरती उतारने ।

अब इस विचलुरित छटा को देखकर कोई क्या देखे, किधर देखे ? है भी कोई वैसी सुषमा किसी ओर ? वह क्या नज़र आती है, हमें तो इस जिन्दगी का जलवा नज़र आता है—कला का करश्मा नज़र आता है । तो क्या उसे पाकर आज यौवन भी धन्य है, शृंगार भी सार्थक और कला भी कृतकृत्य ?

वाह री नारी और वाह री यह प्रगति की निराली बानगी ! यह तुमने अरमानों की एक नई दुनिया बसा दी आज ! यह तो कभी तुम्हारी अपनी दुनिया नहीं थी !

हो-न-हो, यह पछैया हवा का जोरदार हमला है कि हमारे महिला-महल की भी साड़ियाँ उड़ रही हैं आज । अजी, वह झोंका है कि छत काँप रही है, धरती थर्रा

रही है और दीवारें अररा रही हैं। इस प्रवल वन्या के आगे कौन अन्त्यवट की तरह ठट सके आज ? जब सनातनी आचार-विचार आज की विलायती वज्रदारी का शिकार हो रहा है, तो फिर ऐसी कलात्मक प्रगति का निर्भय आशीर्वाद सर पर रख कर व्यभिचार को सर उठाने का अवसर मिल जाय, तो अचरज नहीं।

मगर हसरत तो है नारीत्व के उस अभिसार पर, जो अपनी आँख का पानी ढाल, दो घड़ी के नशे पर, अपना सरबस लुटाने पर तुल गया।

तो अब वह भवन की परिमित परिधि से निकल कर भुवन की विस्तृति को अपना चुकी ? माता और पत्नी की ज़िम्मेवारियों से मुँह मोड़ वह सरापा कामिनी हो गई आज ! मगर हो जो हो, न सही सीता-सावित्री-सी शीलवन्ती, विदुषी और कलावती तो हो गई वह !

मगर वह घर के जीवन से मुँह मोड़ जीवन के समर में आकर भी अपने संस्कार से पिण्ड नहीं छुड़ा पाती है। उसकी बुद्धि की उद्दीपना चाहे जो हो, उसकी प्रकृति का तत्काज्जा तो सेवा या किसी ललित कला की उपासना ही ठहरी। जभी तो वह यहाँ भी कमर में भुजाओं का हार ही बाँधती है, तलवार नहीं।

हाय री आज की नई रोशनी की मोहिनी ! तूने यौवन को संयम का संदेश न देकर उसे वासना का अभय मंत्र दे डाला क्या ? जभी तो आज कैसी-किसकी बेहयाई

रूप और स्वरूप

का इज्जदार भी कला के संचार की स्वीकृति पा गया। और-तो-और, हमारी ध्यान-धारणा भी उसी दृष्टि-भंगिमा की बंदगी बजाने लगी।

x

x

x

तो क्या जो न देखने को, वही देख रहे हैं आज हम ?

अजी, न देखने को क्यों ? कल जिसे देख कर हम आँखें मूँद लेते रहे, उसे आज हम आँखें खोल देखने तो लग ही गए। है न ?

गए कल को न देख कर आने वाले कल को देखना ही तो आज का तक्राजा ठहरा !

हाँ, कल फिर क्या देखना है, यह कला का कुलौंच तो आप ही बोल रहा है जैसे।

कोई दस साल होने को आए, जब हमने पहली बार उसे सर झुकाए स्कूल जाते देखा था, तो हमें लगा कि यह क्या देख रहे हैं आज हम ? कब इस कुलीन कुल की लड़कियाँ यों पर्दे के बाहर आईं ? मगर दूसरे ही पल हमने हवा का रुख देखा। देखा कि आज कितने खानदानी घरों की लड़कियाँ भी घर की दीवार टप बाहर निकल आईं। हवा का रुख देख हर कोई अपनी नाव पर पाल बदल रहा है। अब इसमें रखा ही क्या है और आखिर इससे जाता ही क्या है ! बस, जमाना जो दिखाए, उसे तो देखना ही है—चाहे जैसे।

जानी-सुनी-देखी

तो हाँ, ज़माना जो दिखाए, उसे तो देख रहे हैं आज भी हम—आँखें मूँद देखें या आँखें खोल । घर के आँगन से निकल कर यह होटल के प्रांगण तक बढ़े आना तो देख ही लिया हमने । अभी-अभी उसे कॉकटेल की प्याली पीते देखा, अब एक अंग्रेज कर्नल के साथ लचकते-थिरकते भी देख रहे हैं ।

भगवन् ! अभी कुछ और देखना बाकी है क्या ?



वह जो किसी ने कहा है न कि मसूरी का मारा कभी लौटा नहीं ! बस, वह फिर घर का होकर रह ही नहीं पाता । कहीं रहे, लगी रहती है मसूरी की लौ ।

नवम्बर आने के पहले मसूरी से घर लौटना तो 'इंटरवल' में सिनेमा-हॉल से बाहर आना है । और, कोई यों भी आता है ? जब जेब की गर्मी ठंडी पड़ी या घर के वारंट पर गर्दन फँस गई, तब चारा ? दिल पर पत्थर रखना है—घर लौटना है ।

मसूरी से लौटे कोई एक मसूह होने को आया । यह सर्दी से गर्मी में लौटना खतरे से खाली नहीं । कहीं चेंज की सारी कमाई ही खटाई में पड़ गई, तो लीजिए, लेने के देने पड़े । सँजोकर लाई हुई गठरी तो लुट ही गई, अपनी पूँजी पर भी आँच आ गई तो अच्छे रहे आप !

मसूरी की चौटियों की चढ़ाई पर घंटों ऍड्रियाँ रगड़-रगड़ कर अपने स्वास्थ्य के निर्वाह के लिए मैं जो कुछ

कमा लाया था, उसे कार की मक्कारी ने दो दिन में लूट लिया। और, अचरज तो यह कि डाक्टरों ने फ़तवा दे डाला कि इस चेंज से जाने कैसे हमारे अन्दर सर्दी पैठ गई ! मसूरी की सर्दी में कभी सर्दी न लगी, मगर पहाड़ की चोटी से जब इस धरती पर उतरे और कार की चिलचिलाती धूप खानी पड़ी तो लीजिए, जाने कैसे सर्दी लग गई ! और, सर्दी भी कुछ ऐसी-वैसी नहीं—करारी ! फेफड़े तक छा गई !

आठ-दस दिन तो वह परीशानी रही कि जान ही के लाले पड़ गए जैसे। आखिर जब डाक्टरों की जेब काफी गर्म हुई, तब कहीं जाकर यह सर्दी सर्द पड़ी !

हमारे मुहल्ले के नुक्कड़ पर कार का दुर्गोत्सव जाने कब से होता चला आया है। आज भी उसकी धुन बराबर है।

दुर्गा की प्रतिमा की स्थापना होती है। नौ दिन तक सार्वजनीन पूजन, भजन और संकीर्तन। अष्टमी और नवमी के दिन तो विशेष आयोजन है। धर्म और दर्शन पर व्याख्यान भी हैं, सत्संग भी।

नवमी की शाम है। चिराग जल चुके हैं। आज मैंने भी कहा कि चलो, माँ का दर्शन भी रहे—गायन-वादन का आनन्द भी। दूर जाना तो था नहीं। कंधे पर चादर रखी, चल दिया।

देखा, बड़ी चहल-पहल है। शामियाने के एक सिरे

पर मंच है—उस पर माँ की एक भव्य मूर्ति। शामियाने के अन्दर किसी अभिनय की तैयारियाँ चल रही हैं। पूजा के थाल हाथ में लिये स्त्रियाँ आ रही हैं, जा रही हैं। एक ओर भजन-मण्डली जम रही है। कितने साथी-संगी भी नज़र आए।

तभी मीरा के पिता पर नज़र गई। आँखें चार हुईं। ज़माने पर जो मिले,—बस लिपट पड़े।

“काहए, मिज़ाज तो अच्छे हैं न ?”

“बस, जिये जाता हूँ जैसे-तैसे ! है भी किसी को कल आजकल ?”—मीरा के पिता बड़ी नरमी से कह गए।

“क्यों, खैरियत तो है....?”

“काली जी की कृपा रही। लल्ला—वही मीरा का बच्चा—मरने से बचा समझो।”

“तो क्या मीरा मसूरी से वापस आ गई ?”

“जी, कभी आ गई। मेहमान तो मसूरी से हिलने को तैयार न थे, मगर दिल्ली से जाने क्या उनकी तलबी आई कि उनकी एक न चली। मीरा बिचारी तो होटल की ज़िन्दगी से कब की ऊब चुकी थी। पर करती क्या ? पति और परिस्थिति की चपकलिश जो थी।...क्या बताऊँ, हमारे यहाँ लड़के तो लन्दन को नन्दन समझ बैठे हैं। कहीं सिविल-सर्विस में आ गए, तो लीजिए, फिर दिमाग तो दिमाग, दिल भी बदल गया ! विलायती साँचे में ऐसे ढल गए कि गोरे भी वैसे क्या होंगे !”

मैंने मन-ही-मन कहा कि जैसे मीरा ही उन्नोस ठहरी !...तो वह मसूरी सूनी कर आई ? भला अब कोई क्या पाएगा वहाँ रह कर ? कहाँ ढूँढ़ेगा उस अदा को ? ...उसके पति तो खैर विलायती हवा-पानी में पले ही, वह कौन लन्दन की हवा खा आई है जो यों बैठे-बिठाए अपनी परम्परा का तिलांजलि दे कर एकबारगी मेम-साहवा ही बन गई ! मसूरी में हमने जो कुछ देखा, उससे तो यह साफ़ झलका कि उसके अन्दर की नारी कभी की मर चुकी । जभी तो आज की विलायती विलासिता की वामन्ती का वरण कर धर्म और सेवा की उस अतीन्द्रिय ऊँचाई से मुँह मोड़ वह जाने कहाँ—किस खड्ड में उतर रही है !

मगर मीरा के पिता से कोई क्या कहे—कैसे कहे ? उनकी धज तां ठहरी पुरानी सनातनी ।

“तो आखिर मीरा है कहाँ ? हम तो उसे मसूरी के रंग में शराबोर छोड़ चले आए...”

“अजी वाह ! जैसे कि वह अपनी खुशी गई थी वहाँ ! मत पूछो, यह साल उसका बड़ा वैसा रहा । किसी शत्रु पर भी वैसा न बीते ! उधर फागुन आते पति बीमार पड़े । परहेज उनसे हो नहीं—खाने-पीने की जैसी लत है उनकी । एक पैर पर खटती रही बिचारी । तुम जानते नहीं, एकाध गहने भी उसने गिरों रखे ।”

“आपकी भी क्या बातें हैं ! भला एक सिविलियन की पत्नी चलेगी गहने गिरों रखने ?”

“अजी, किसी की बाहरी सज-धज पर न जाओ। क्लब, होटल और बोतल—ये तीन ऐंस मुँहजोर ठहरे कि शरीफ का लहू भी चूस लें। इसी वज्जेदारी के निभाने में जवान भी चटोर हो गई, मिजाज भी आरामपसन्द। यह तो कहो कि मीरा ने गहने गिरों रख डाक्टरों की फरमाइशें पूरी की, हवा बदलाने को मसूरी ले गई। नहीं तो, जाने क्या बला आती ! मेहमान को तो शायद पूरा पता भी नहीं। मसूरी से लौटी तो गोद का बच्चा भी सर्दी-गर्मी के उलटफेर में पड़ गया। न्यूमोनिया का वह जोर कि डाक्टर बिचारा भी थरा गया। मेहमान भी मौजूद नहीं...”

“सो क्यों, वह तो साथ लौटे होंगे न ?”

“अजी, वह दिल्ली जमे हैं किसी कोशिश-पैरवी में। बच्चा बीमार न होना, तो मीरा को भी घसीट ले गए होते। वह शहर में मौजूद होते, तो मीरा इस घड़ी यहाँ आने-पाती ? शाम हुई नहीं कि किसी क्लब या होटल की मटर-गश्ती चली।”

“मगर मीरा की दुनिया भी तो वही ठहरी—यह आपवाली नहीं !”

“सो क्यों ?”

“अजी, जब थी, तब थी। अब तो वह विलायती

हवा-पानी में खिंच गई । वह भला आज यहाँ क्यों आने गई ?”

“यह सुनो ! आज नवमी की पूजा में न आएगी वह ? ऐसी भूल ? उसे कुत्ते ने काट खाया है क्या ? कल से उपवास कर रही है बिचारी । पति और पुत्र दोनों की मन्नतें जो उतारनी ठहरों । और एक तुम हो कि...”

“कसूर माफ, अब वह धर्मयुग तो रहा नहीं । उसे क्यों नाहक बाँध लाए यहाँ ?”

“मैं बाँध लाया ? यह ख़ब ! वह मेरे साथ थोड़े ही आई है । मैं तो कल शाम जा पड़ा था लल्ला को देखने । तब वह उबल पड़ी...”

“जी, फिर वह आ चुकी ! आप कब तक यों खड़े-खड़े...”

“क्या कह रहे हो तुम ! वह सर के बल आएगी । भला ऐसे अवसर पर...”

उनकी बात पूरी भी न हो पाई थी कि वह एकबारगी उबल पड़े—“लो, आ गई न वह !”

“कहाँ ? इन औरतों की भीड़ में तो मीरा नहीं दिखती ।”

“रहे तुम यों ही । वह क्या सामने आ रही है !”

हैं ! यही मीरा है वह ? यह तो मसूरी की वह मीरा नहीं ! कोई और है क्या ?... बहुत है तो उसकी छाया है बस !

वह सर झुकाए सामने से गुजर रही है।

हाँ, शक तो मिली-जुली जरूर है। मगर नहीं, यह तो साँवली है—कहाँ वह मेमों-सी गोरी थी। वह गीन होंठ—वह गुलाबी गाल—वह भवों पर नकाशी—वह आँखों की रसमस्ती ! यहाँ तो एक भी नहीं वह !

वेश-भूषा ही क्या, भाव-भगी तक अलग है। और लो यह माथे पर सिन्दूर भी है, ललाट पर रोली भी। नाक में कील, कानों में मोती। यह शर्म और श्रद्धा से झुकी चितवन ! मुख पर भीने आँचल का अवगुण्ठन। कहाँ वह, कहाँ यह !

उहँ ! ये आँखें तो कभी छलकते हुए पैमाने नहीं हो सकतीं। यह बाँह तो किसी गौर की कमर में पड़ भूमने से रही। ये होंठ तो कभी कॉकटेल के प्याले लगा न सकेंगे।

यही वह मीरा है क्या ? दबि ! तुम्हीं कहो, दोनों में कौन है हमारी मीरा—यह या वह ? वह या यह ? दोनों तो मीरा होने से रहीं ! जो एक है, वह फिर अनेक कैसे होगी ? ... तो क्या एक हैं मीरा—एक है उसकी माया ? ... तो कौन है मीरा—कौन उसकी माया ?

वह माता की मूर्ति आगे घुटने टेकती है, सर झुकाती है, अँजलियों से फूल बरसाती है, अगर-बत्ती का धूप-दीप दिखाती है, कपूर की आरती उतारती है, माता के चरणों पर बच्चे का सर टेकती है और फिर पास ही

खड़ी 'आया' को उसे थमा कर खुद भी उन चरणों पर लोट जाती है ।

हाय राम ! क्या श्रद्धा है उसके नेहरे पर—कैसी दीनता है उसकी नजरों में ! .. हैं ! यह आँसू हैं क्या, जो टप-टप उसके गालों पर उतर रहे हैं ?

देवि ! यही हैं वे आँखें, जिनमें उस दिन क्रयामत की बिजलियाँ खेलती थीं और हमे लगा कि इन आँखों के आँसू तो सूख गए सदा के लिए ! आज यह कैसे क्या हो गया !

और, वह खड़ी-खड़ी जाने क्या-क्या कहे जा रही है मम-ही-मन । क्या चाह रही है, क्या माँग रही है—कौन कहे ?

वह बच्चे के सिर पर आशीर्वाद का फूल रखती है । दाईं ओर मुड़कर दो फूल अपने माथे से भी छुलाती है ।

.. 'तभी आँखें चार हो गईं' । और, वह मुख पर आँचल सरकाती हुई मेरी ओर मुड़ चली । .. 'नहीं-नहीं, यह हाथ जो सर पर घूँघट सरकाने उठा है, किसी से हाथ मिलाने को बढ़ेगा भला ?

उसके हाथ मेरे पैरों पर आए । वह सर नवाकर झुक गई ।

“तुम तो आज पहचानी भी नहीं जाती मीरा !”—
मैंने ज़रा रुक कर कहा ।

रूप और स्वरूप

वह सामने सर नवाए खड़ी रही। जाने क्या सोचता रही। फिर ज़रा मुस्कुराकर बोली—“आपने मुझे इधर देखा ही कब ?”

“यह तो ! अभी उस दिन मसूरी के उस होटल में

“अजी, वइ तो मेरा एक रूप था !”

“रूप ?”

“जी हाँ, रूप—अभिनय।”

“और यह ?”

“यही स्वरूप है—हृदय। वह परिवर्तनशील है, यह चिरन्तन। भगवान के घर में तो नकाब उतार कर ही आने का दस्तूर ठहरा।”

“आदमी के घर क्यों नहीं ?”—मैंने हँस कर पूछा।

“उसकी समझ की बलिहारी !”

मैं चुप रहा। वह सर झुकाए बाईं ओर मुड़ने लगी, तो मैं फिर टोक बैठा—“मुझे एक खटका ज़रूर है। यह होटल और डांस तो खैर, कोई वैसी ‘मगर’ मगर यह तुम छूट कर पीने लगी !”

“इसमें क्या रखा है ? यहाँ तो क्या-क्या नहीं पीना पड़ता है अक्सर ‘लहू का घूँट तक। काँकटेल पी ली तो क्या ? उनकी बात भी रह गई, नशा भी न रहा।”

“सो कैसे ?”

“आप शायद रंग और बू पर गए, पर मेरे ‘कप’ वें तो मद की बूँद नहीं के बराबर थी। ‘जिन’ नाम-पात्र, ‘लेमन’ अधिक। खुद बना लिया या खानसामे को इशारा कर दिया !”

मैं तो शर्म से झुक पड़ा। बोला—“माफ़ करना, मैंने उस दिन तुम्हें पहचाना नहीं था। तुम तो एक पहेली हो—पहेली। अब जाना कि किसी का रंग-रूप या उसका रूम देखकर हम उसके मर्म तक नहीं पहुँच पाते—

“आँख जो देखता है देखती है,
दिल के राजा-नेयाज़ क्या जाने !”

